प्रकाशक—

महेन्द्र, संचालक

साहित्य-रत्न-भण्डार

सिविल लाइन्स, आगरा।

प्रथम संस्करण		१६३८
द्वितीय	,,	१६४०
तृतीय	,,	१६४१
चतुर्थ	,,	१६४२
पंचम	,,	१६४३
षष्ठम	,,	१६४४
सप्तम	,,	१६४६
अष्टम	,,	१६४७

मुद्रक—

साहित्य-प्रेस

आगरा।

निवेदन

इतिहास में नामों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का अध्ययन अधिक आवश्यक है क्योंकि उनके ही द्वारा विकास-क्रम की श्रेणियाँ समझी जा सकती हैं। यद्यपि हमारा मूल ध्येय तो विकास-क्रम का अध्ययन ही रहा है तथापि यथासम्भव नामों की उपेक्षा नहीं की गई है। हिन्दी साहित्य की उन्नति दिन-दूनी रात-चौगुनी हो रही है, उसके साथ कदम मिलाये रखना सहज नहीं है। फिर भी प्रायः प्रत्येक संस्करण में हम इस पुस्तक में संशोधन और परिवर्द्धन करते गये हैं। यह इस पुस्तक का आठवाँ संस्करण है। पाठकों की इस गुण-ग्राहकता का मैं हृदय से आभारी हूँ। इस संस्करण में आवश्यक संशोधन करने के साथ ही बहुत कुछ परिवर्द्धन भी किया गया है; इतने पर भी यदि कुछ लेखकों के नाम रह गये हों तो वे लेखक की असावधानी समझ कर क्षमा कर दें।

इस पुस्तक के लिए परम श्रद्धाभाजन मिश्रबन्धु गण तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डाक्टर रामकुमार वर्मा और डाक्टर श्यामसुन्दर दास की पुस्तकों से तथा अन्य पुस्तकों और लेखों से लाभ उठाया गया है। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नोल्लिखित शब्दों में उन महानुभावों का आभार स्वीकार करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ:—

"अति अपार जे सरित वर ज्यों नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकऊ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं॥

—गुलाबराय

गोमती निवास आगरा,
स्वतन्त्रता दिवस
संवत् २००४

विषय—सूची

हिन्दी
साहित्य का सुबोध इतिहास

हिन्दी के पूर्व की भाषाएं

हिन्दी साहित्य के इतिहास के विषय में कुछ कहने से पूर्व उसकी पूर्ववर्तिनी भाषाओं के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। हिन्दी से पहिले की भाषाऐं इस प्रकार मानी गई हैं—

१—**वैदिक संस्कृत**—इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। यह भारतीय आर्यों की भाषा थी।

२—**संस्कृत**—वैदिक भाषा व्याकरणों के नियमों से पूर्णतया जकड़ी हुई न थी। उसमें एक शब्द के कई रूप थे (जैसे क्षुद्रक-क्षुल्लक, पश्चात्-पश्चा देवैः-देवेभिः)। जिनसे प्रतीत होता है कि उसका तात्कालिक बोलचाल की भाषा से विशेष सम्पर्क था। जब शिष्ट लोगों के व्यवहार की भाषा अलग होकर नियमबद्ध हो गयी, तब वह संस्कृत अर्थात् संस्कार की हुए या संशोधन की हुई कहलायी। उसमें एक-रूपता आगयी और वह सारे देश की भाषा बन गयी, किन्तु उसके साथ-साथ उसका विकास भी बन्द हो गया। भाषा को एक रूपता देने तथा व्याकरण के ढाँचे में बाँधने वालों में पाणिनि का नाम विशेष आदर से लिया जाता है। उनका समय ६०० ईसा पूर्व के लगभग माना जाता है।

३—**पहली प्राकृत या पाली**—संस्कृत का व्याकरण-बद्ध रूप साहित्य में प्रतिष्ठा पागया, किन्तु व्याकरण की जटिलता के कारण वह जन-समुदाय के लिए कुछ दुरूह होगयी। वह विद्वानों की ही भाषा रही और जन-समुदाय की भाषा स्वतन्त्ररूप से विकसित होती रही। बुद्ध भगवान ने जनता में अपने

सिद्धान्तों के प्रचार के निमित्त लोक-भाषा को ही अपनाया। बौद्ध लोग उसी जन-समुदाय की भाषा को मागधी या मूल भाषा (सा मागधी मूल भाषा) कहते हैं। पीछे से इसकी पाली (पालि अर्थात् पंक्ति *) नाम से प्रतिष्ठा हुई प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में तथा अशोक के शिला-लेखों में यह रूप मिलता है। अशोक के शिलालेख ब्राह्मी और खारोष्ट्री दोनों ही लिपियों में मिलते हैं। कुछ लोग बौद्धों की इस मूल भाषा को पहली प्राकृत कहते हैं।

हिन्दू पंडितों का विचार है कि संस्कृत से प्राकृत का उदय हुआ। उनके मत से उच्चारण की सुगमता के प्राकृतिक नियमों के कारण संस्कृत ने यह रूप धारण कर लिया। उन्होंने संस्कृत से प्राकृत में रूपान्तर करने के लिए नियम भी दिये हैं। अन्य विद्वानों का मत यह है कि प्राकृत जन-समुदाय की स्वाभाविक (प्राकृत) भाषा थी जिससे संशोधित होकर संस्कृत (संस्कार की हुई) भाषा बनी।

४—दूसरी प्राकृत—यह प्राकृत के ही नाम से पुकारी जाती है। इस को साहित्यिक प्राकृत भी कहते हैं। कालान्तर में जन-समुदाय की भाषा साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशा में साहित्यिक भाषा एक निश्चित रूप धारण कर लेने के कारण विद्वानों की भाषा हो जाती है और जन-समुदाय की भाषा प्राकृतिक नियमों के अनुसार विकसित होती रहती है। इस प्रवृत्ति के अनुकूल जन समुदाय की भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया।

दूसरी प्राकृत के चार रूप थे—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध मागधी। इनमें वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रधानता दी है। इसी को आदर्श मानकर अन्य प्राकृतों के नियम इसी से भेद करके बतलाये हैं। वह राष्ट्र में व्यापक होने के कारण महाराष्ट्री कहलायी। शौरसेनी का प्रचार देश के मध्य भाग में था और ब्रज मंडल से विशेष सम्बन्ध होने के कारण उसका नाम शौरसेनी (अर्थात् शूरसेन के अधिकृत देशों की भाषा) पड़ा। कुछ लोग शौरसेनी

---

* पंक्ति 'पंति' पत्ती (देखो वेनुपत्री विदग्ध माधव पृष्ठ १८) 'पंत्ती से पट्टी, पट्टी से पाटी और उससे पाली'—डा० श्यामसुन्दरदास हिन्दी भाषा और साहित्य।

को मुख्यता देते हैं और कुछ लोग महाराष्ट्री को। संस्कृत नाटकों में स्त्रियों तथा मध्यवर्ग के पुरुषों की भाषा शौरसेनी है, मागधी का प्रचार मगध (बिहार) में था, और अर्ध मागधी का प्रचार कोशल (अवध) में था। यह शौरसेनी प्रान्त और मगध के बीच में था। बुद्धदेव और महावीर स्वामी ने इसी भाषा में उपदेश दिया था। पैशाची नाम की एक पाँचवीं प्राकृत भी (जिसका प्रचार काश्मीर में था) मानी गयी है। काश्मीर का उत्तर प्रान्त पिशाच या पिशास (कच्चा मांस खाने वाला प्रदेश) कहलाता था, इसी के आधार पर इस भाषा का नाम पैशाची पड़ा। पंजाबी पर इसका विशेष प्रभाव है।

५—अपभ्रंश—जब साहित्यिक प्राकृत बोलचाल की प्राकृत से पृथक हो गयी तब जन-साधारण की भाषा ने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया और वह अपभ्रंश कहलायी जाने लगी। साहित्यिक लोग अपढ़ या कम पढ़े लोगों की भाषा को अपभ्रंश अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा कहते थे। पहले तो विद्वन्मण्डली में यह तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती थी, पर पीछे उसका भी आदर होने लगा और उसमें भी साहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा गया। हेमचन्द्र ने इसका व्याकरण भी रच डाला। गुजरात के जैनाचार्यों ने इस भाषा में ग्रन्थ रचना कर इसका मान बढ़ाया। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों की प्राकृतें मानी गयी हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाएँ भी मानी गयी हैं। शौरसेनी अपभ्रंश ही से व्रज भाषा की उत्पत्ति हुई। शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से उत्तरी भारत की व्यापक भाषा थी। प्राकृत सर्वस्व के कर्ता आचार्य मार्कण्डेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंश भाषाएँ मानी हैं (१) **नागर**—जिसमें शौरसेनी का अधिक प्रभाव था और जो गुजरात व राजपूताने में प्रचलित थी (२) **व्राचड़**—जो सिन्ध में प्रचलित थी। (३) **उपनागर**—नागर और व्राचड़ बोले जाने वाले प्रान्तों के बीच में बोली जाती थी। (४) **प्राचीन हिन्दी**—यह अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की श्रेणी है। इसे अवहट्ट (या अपभ्रष्ट) नाम दिया गया है। इसको डिंगल से पृथक भाषा भी कहा गया है।

हिन्दी के पूर्व की भाषाओं का काल-विभाग

श्रीयुत डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने स्वरचित भाषा के इतिहास में प्राचीन भाषाओं के समय इस प्रकार दिये हैं—

१—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल—१५०० पू० ई० से ५०० पू० ई०।

२—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल—५०० पू० ई० से १००० ई०।

क-पाली तथा अशोक की धर्मलिपियाँ—५०० पू० ई० से १ पू० ई०।

ख-साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ—१ ई० से ५०० ई० तक।

ग-अपभ्रंश भाषाएँ—५०० ई० से १००० ई० तक।

३—आधुनिक आर्य-भाषाकाल—१००० ई० से वर्तमान समय तक।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नाम के ग्रन्थ में हिन्दी के विकास की तीन श्रेणियाँ दी हैं:—

प्राचीन काल—(११०० ई०—१५०० ई०) इस काल में हिन्दी भाषा प्राकृत तथा अपभ्रंशों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुई थी। इसके नमूने शिला लेखों अपभ्रंश काव्य एवं चारण काव्य में मिलती हैं।

मध्यकाल—(१५०० ई०—१८०० ई०) इस काल में हिन्दी की बोलियाँ विशेष कर ब्रज और अवधी अपने पैरों खड़ी होने लगी थीं और संस्कृत के तथा अपभ्रंशों के प्रभाव से मुक्त हो गयी थी।

आधुनिक काल—(१८००—) इस काल में हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों को अधिक स्थान मिलने लगा और क्रमशः खड़ी बोली ने ब्रज और अवधी को दबा लिया।

हिन्दी साहित्य का काल-विभाग

हिन्दी साहित्य का इतिहास चार कालों में विभाजित किया जाता है। वे इस प्रकार हैं—

१—आदिकाल—(वीरगाथा वा चारण-काल संवत् १०५० से १३७५)

२—पूर्व मध्य काल—(भक्तिकाल वा धार्मिक काल संवत् १३७५ से १७००)

३—उत्तर मध्यकाल—(रीतिकाल सं० १७०० से १६००)

४—आधुनिक काल—(स्वातंत्र्यकाल सं० १६०० से...)

यह विभाग बहुत मोटा विभाग है। जिस साहित्यिक प्रवृत्ति का जिस काल में प्राधान्य रहा उसी के नाम से वह काल प्रसिद्ध है। वैसे तो आजकल भी रामभक्ति और कृष्णभक्ति की परम्परा चल रही है और एक प्रकार से वीर-काव्य भी लिखा जा रहा है किन्तु वर्तमान काल को भक्ति-काल या वीर-गाथा-काल नहीं कह सकते।

आदिकाल

(वीरगाथा-काव्य)

प्रारम्भिक—यह कहना कठिन है कि हिन्दी का आरम्भ कब से हुआ। कुछ लोग हिन्दी का आरम्भ संवत् ७७० वि० से मानते हैं। शिवसिंह सरोज में तत्कालीन राजा मान के सभासद पुष्य नामक एक कवि का उल्लेख किया गया है जिसमें दोहों में कोई अलंकार-ग्रन्थ रचा था किन्तु इसके लिये हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता।

हिन्दी का आदिकाल संवत् १०५० से १३७५ तक माना गया है। इस काल में अपभ्रंश का प्राधान्य था। अपभ्रंश उस समय की बोलचाल की भाषा तो न थी परन्तु साहित्यिक परम्परा की भाषा अवश्य थी, जिसका कि प्रयोग एक प्रचलित रूढ़ि के कारण कवि लोग अपनी रचनाओं में कर रहे थे। उस समय की बोल-चाल की भाषा के नमूने हमको खुसरो और कबीर में मिलते हैं। विद्यापति ने अवहट्ट और अपने प्रान्त की प्रचलित भाषा दोनों को ही अपनाया है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' अवहट्ट भाषा में है। इस प्रकार आदिकाल का हिन्दी काव्य दो प्रकार के काव्यों में विभक्त है—एक अपभ्रंश काव्य और दूसरा देश भाषा काव्य।

अपभ्रंश काव्य—अपभ्रंश काव्य अधिकतर दूहा अर्थात् दोहा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। जिस प्रकार गाथा कहने से प्राकृत-काव्य का बोध होता है उसी प्रकार दूहा कहने से अपभ्रंश-काव्य लक्षित होता है। अपभ्रंश काव्य का जो सब से प्राचीन रूप हमको मिलता है, वह दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग का है। देवसेन (सं० ६६० वि०) के श्रावकाचार नामक एक जैन-ग्रन्थ में अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप दिखाई पड़ता है। उसका एक दोहा यहाँ पर दिया जाता है:—

जे जिए सासण भाषियउ सौ मई कहयउ सारु।
जो पालेइ सइभाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

बौद्धों की महायान शाखा से प्रभावित सहजिया सम्प्रदाय की कुछ पुरानी पोथियों में उस समय के कुछ दोहे मिलते हैं। बौद्धों के चौरासी सिद्धों में सरहपा* नाम के एक सिद्ध हुए हैं, उनका नीचे का दोहा उदाहरणार्थ दिया जाता है। इनका समय ६९० वि० माना गया है।

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
तहि बट चित्त विश्राम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

सिद्धों के सहजिया सम्प्रदाय में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को महत्ता देकर एक प्रकार के स्वच्छन्दतावाद का प्रतिपादन हुआ। गोरख पंथ इसी स्वच्छंदतावाद की प्रतिक्रिया में चला और उसने कबीर आदि को प्रभावित किया। उसके हठयोग की प्रतिक्रिया सूर और तुलसी में दिखाई देती है।

इन धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी अपभ्रंश काव्य के नमूने मिलते हैं। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (११५०-११९९) के समय में जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन नामक एक बृहत व्याकरण ग्रन्थ बनाया है। उसमें से अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ एक 'दूहा' उदाहरणार्थ नीचे दिया है:—

भल्ला हुआ जो मारिया, बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥

अर्थात् हे बहिन! अच्छा हुआ जो हमारा पति (रण) में मारा गया। यदि वह भागकर घर लौट आता तो मैं अपनी उमर की सखियों में लज्जा को प्राप्त होती।

सोमप्रभु सूरि—इन्होंने संवत् १२४१ में 'कुमारपालप्रतिबोध' नामक

---

*इनको राहुल भद्र और सरोज वज्र भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए गङ्गा का पुरातत्वाङ्क (जनवरी १९३३) देखिए।

एक संस्कृति-प्राकृत-काव्य लिखा। उसमें कुछ प्राचीन अपभ्रंश काव्य के नमूने और कुछ उनके ही बनाये हुए दोहों के नमूने मिलते हैं।

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग—इन्होंने संवत् १३६१ में 'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें बहुत से प्राचीन राजाओं की कथा संगृहीत है। इन कथाओं के अन्तर्गत राजा भोज के चचा मुंज के कहे हुए बहुत से दोहे मिलते हैं। उनमें से एक उदाहरणार्थ दिया जाता है—

जा मति पच्छइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ, मुणालवइ! बिघन न वेढ़इ कोइ॥

अर्थात् जो बुद्धि घटना के पीछे प्राप्त होती है वह यदि पहले हो तो मुंज कहता है कि हे मृणालवति! किसी को विघ्न न घेरें।

शार्ङ्गधर—(चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लिखित) इनका 'शार्ङ्गधर पद्धति' नामक शुभाषित ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने हम्मीर रासो नामक एक वीरगाथा-काव्य भी रचा था जो आज कल उपलब्ध नहीं है।

विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' भी अपभ्रंश के अन्तर्गत हैं। ये पुस्तकें तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की प्रशंसा में लिखी गई हैं। एक उदाहरण 'कीर्तिलता' से दिया जाता है:—

सब्बउँ नारि विअक्खनी सब्बउँ सुस्थित लोक।
सिरि इमराहिमसाह गुणे नहि चिन्ता नहि शोक॥

उपसंहार—पुरानी हिंदी का विकास अपभ्रंश काव्य में ही हुआ। जहां पर अन्तर थोड़ा होता है वहां पर संक्रान्ति के समय का पता लगाना कठिन हो जाता है। सं० १०५० के लगभग अपभ्रंश के दूहा-साहित्य का खूब प्रचार था। उसी समय से हिन्दी का जन्म समझना चाहिये।

प्राचीन हिन्दी के सम्बन्ध में राहुल साकृत्यायन ने बहुत कुछ खोज की है। उसी के आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने सरहा या सरहपा नाम के एक सिद्ध को हिन्दी का प्रथम लेखक माना है। यह सातवीं शताब्दी में विद्यमान था। जो कुछ हो, यह कहना पड़ेगा कि पुरानी हिन्दी के विकास में

जैनाचार्यों तथा बौद्ध-सिद्धों का बहुत कुछ हाथ था। उनके लिखने की प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। उन्होंने साहित्यिक विषयों को कम स्पर्श किया। इसी कारण साधारण जनता में उनकी कम प्रसिद्धि हुई।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान देने की है वह यह है कि जैसे-जैसे हिन्दी का विकास होता गया वह प्राकृत के बन्धनों से छूटती गई और संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाती गई।

वीर गाथा काव्य—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदिकाल में दो प्रकार की रचनाऐं हुईं। एक अपभ्रंश की और दूसरी देश-भाषा की। अपभ्रंश की पुस्तकों में चार साहित्यिक पुस्तकों का उल्लेख किया जाता है। और देश-भाषा काव्य में आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं:—

अपभ्रंश काव्य—(१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्तिपताका।

देश भाषा काव्य—(१) खुमान रासो, (२) बीसलदेव रासो, (३) पृथ्वीराज रासो, (४) भट्ट केदारकृत जयचन्द प्रकाश, (५) मधुकर कविकृत जयमयङ्क रसचन्द्रिका, (६) परमाल रासो (७) खुसरो की पहेलियाँ (८) विद्यापति की पदावली।

परिस्थिति एवं सामान्य परिचय—हिन्दी साहित्य का जन्म ऐसे समय में हुआ जब कि मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ होगये थे। हिन्दू राजा लोग अपने-अपने राज्यों की रक्षा में लगे हुये थे। मुसलमानों की लूट मार जारी थी। ये लोग कभी खदेड़े जाते थे और कभी प्रबल होकर अपना अधिकार जमा लेते थे। गजनी, गोरी के आक्रमणों ने राजपूतों को शिथिल कर दिया था। राजपूत राजा लोग अपने-अपने वैयक्तिक गौरव की अधिक परवाह करते थे। देश के गौरव का उन्हे कम ध्यान था। उनमें वीरता थी किन्तु वह वीरता का कोष प्रायः आपस की प्रतिद्वन्द्विताओं में खाली किया जारहा था। इन प्रतिद्वन्द्विताओं के कारण राजा लोग एकसूत्र-बद्ध सामूहिक शक्ति का परिचय न दे सके। मुसलमानों के पैर धीरे-धीरे जमते गये। उन दिनों कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ (गुजरात) आदि राजधानियाँ ही

प्रधान क्रियास्थली थीं। प्रमुख वीर-गाथा-काव्य दिल्ली और कन्नौज के राजाओं तथा उनके अनुयायियों के प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण चरित्रों पर आश्रित है। चन्द ने पृथ्वीराज का वर्णन किया तो भट्टकेदार और मधुकर कवि ने जय चन्द का यश गाया।

वह युग युद्ध का युग था। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। इसी नियम के अनुकूल तत्कालीन साहित्य में वीरता की छाप पड़ी। उस काल के साहित्य-निर्माता चारण लोग थे जो अपने आश्रयदाताओं का यश-गान कर उन्हें युद्ध के लिए प्रोत्साहन देते और कभी-कभी लेखनी या वाणी के चमत्कार और कौशल के साथ-साथ तलवार का भी कौशल दिखला कर युद्ध क्षेत्र में वीर-गति को प्राप्त होते थे। इन लोगों में भी अपने आश्रय दाताओं की भाँति वैयक्तिक भावना की मुख्यता थी। इसी कारण इनकी कविता में जो राष्ट्रीय-भावना वाञ्छनीय थी उसका अभाव रहा। वे अपने आश्रयदाता राजाओं का ही यशोगान करना जानते थे। 'जिसका खाना उसका गाना' की लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है। उस समय का काव्य वीर-काव्य अवश्य था किन्तु उसके राष्ट्रीय काव्य होने में संदेह है।

वीरगाथाओं के साथ इस प्रकार के काव्य में शृङ्गार का भी पुट पर्याप्त मात्रा में रहता था क्योंकि प्रायः स्त्रियाँ ही पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और झगड़े का कारण होती थीं और उनके रूप तथा प्रतिद्वन्द्वियों से उनकी रक्षा का वर्णन ही ऐसे काव्यों का रुचिकर विषय होता था। ऐसे काव्यों के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन में तत्कालीन युद्धों का बड़ा-सुन्दर और सजीव वर्णन है। संक्षेप में वीरगाथा-काव्य ग्रन्थों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

१—आश्रयदाताओं की प्रशंसा।
२—वीर रस के साथ शृंगार का पुट।
३—युद्धों का सुन्दर एवं सजीव वर्णन।
४—कल्पना का प्राचुर्य।
५—इतिहास की अपेक्षा काव्य की मात्रा अधिक।

वीरगाथा-काव्य प्रबन्ध काव्य के रूप में भी मिलता है और वीरगीतों के रूप में भी। ये ग्रन्थ रासों के नाम से प्रसिद्ध हैं। रासो का सम्बन्ध रसायन और कहीं-कहीं रास (आनन्द) से लगाया जाता है। 'रास प्रगासो बोसलदे-राइ।' 'रासो' शब्द का सम्बन्ध रहस्य से भी बतलाया गया है। प्रबन्ध काव्य के रूप में आये हुए रासो-ग्रन्थों में खुमान रासो और पृथ्वीराज रासो प्रसिद्ध हैं।

खुमान रासो—यह दलपति विजय का बनाया हुआ ग्रन्थ है। कहा जाता है कि मूल पुस्तक में चित्तौड़ के दूसरे खुमान (८७०-६००) के युद्धों का वर्णन है। वर्तमान प्रतियों में महाराणा प्रताप तक का वर्णन है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रायः आठ सौ वर्ष तक इसमें परिवर्द्धन होता रहा है। इनमें यह नहीं कहा जा सकता कि प्रक्षिप्त भाग कितना है, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय मूल ग्रन्थ का रचयिता है अथवा पिछले भाग का।

पृथ्वीराज रासो—पृथ्वीराज रासो वीरगाथा-काल के ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध है। साधारणतया यह उस काल का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। यह प्रबन्ध-काव्य है और इसमें वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यञ्जना की गयी है। यह ग्रन्थ हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है, किन्तु रामायण, महाभारत आदि में जो जातीय भावों का उद्घाटन दिखाई देता है, वह इसमें नहीं है। इस ग्रन्थ में कल्पना की उड़ान और उक्तियों की चमत्कारिता का अच्छा परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में ६९ समय अर्थात् अध्याय हैं। इसमें छप्पय, कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या छन्दों का प्राचुर्य पाया जाता है। इस ग्रन्थ की कथा चन्द की दूसरी स्त्री गौरी से कही गई थी।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री चन्दबरदाई (सं० ११२५-१२४९) माने जाते हैं। ये महाकवि भट्ट जाति के अन्तर्गत जगात गोत्र के थे। ये दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराज पृथ्वीराज के सखा, सामन्त और राजकवि थे। कहा जाता है कि पृथ्वीराज और इनका जन्म एक ही तिथि को हुआ

था और मृत्यु भी एक ही तिथि को हुई। इस प्रकार पृथ्वीराज के साथ इन्होंने पूर्ण मित्रता निभाई। ऐसा कहा जाता है कि जब महाराज पृथ्वीराज ग़ज़नी पकड़ कर ले जाये गये तो कुछ दिनों बाद चन्द भी वहाँ पधारे। पृथ्वीराज शहाबुद्दीन को शब्दभेद बाण से मार कर स्वयं चन्द के हाथ से मर गये तथा उसी समय चन्द ने अपना भी प्राणान्त कर लिया। कादम्बरी के रचयिता बाण की भाँति इनको भी अपने ग्रन्थ का अपूर्ण भाग अपने पुत्र जल्हन को सौंपना पड़ा था। इसका उल्लेख रासो में इस प्रकार आता है—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज'

पृथ्वीराज रासो में अग्निकुल के क्षत्रियों की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तार वर्णन है। सुप्रख्यात इतिहासवेत्ता रायबहादुर साहित्य वाचस्पति श्री पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने काश्मीरी कवि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रन्थ के आधार पर रासो में वर्णित घटनाओं की सत्यता में सन्देह प्रगट किया है। उनके मत से रासो एक जाली ग्रन्थ है जो पीछे से चन्द नाम के अन्य किसी कवि ने लिख दिया है। इस मत का मूल आधार यह है कि पृथ्वीराज रासो की कई घटनाएँ इतिहास से भिन्न हैं और बहुत से संवतों में भी अन्तर है। रासो के संवत शिलालेखों और दानपत्रों के संवतों से नहीं मिलते। ओझाजी का कथन है कि चंद ने पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन गोरी को सात बार हराया जाना लिखा है किन्तु इतिहास से एक बार का भी हराया जाना प्रमाणित नहीं होता। रासो में पृथ्वीराज की माता का भी नाम ठीक नहीं दिया है। पृथ्वीराज रासो में उनका नाम कमला है। पृथ्वीराज विजय में उनका नाम कर्पूरदेवी दिया गया है। शिलालेखों से न तो चौहान आदि राजवंशों के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति और न संयोगिता-स्वयंवर की बात प्रमाणित होती है। किन्तु यह शिलालेखों की गवाही अभावात्मक है। सम्भव है उन शिलालेखों के समय तक रासो में वर्णित कथाओं का पूरा-पूरा प्रचार न हुआ हो।

ओझाजी के मत के विरुद्ध पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने रासो के असली होने के पक्ष में यह युक्ति दी है कि यद्यपि रासो के संवतों और

इतिहास प्रमाणित संवतों में अन्तर है तथापि यह अन्तर सब स्थानों में एकसा है। यह ९० वर्ष का अन्तर है। ९० वर्ष के अन्तर देने का यह कारण बतलाया जाता है कि नन्दवंशीय राजा शूद्र थे और राजपूत-गौरव के रक्षक चारण गण उस काल को राजपूतों के इतिहास में नहीं रखना चाहते थे। इसलिए वे उस समय को छोड़ कर काल-गणना पृथक रीति से करते हैं और इसी कारण वह अनन्द, अर्थात् नन्द रहित, संवत् माना गया है। अनन्द का अर्थ भी ९० लगाया है (अ = ०, नन्द = ९) ओझाजी ने सिद्ध किया है कि अनन्द संवत् की कल्पना करने पर भी रासो की तिथियाँ ठीक नहीं बैठतीं।

शहाबुद्दीन गोरी को सात बार हराये जाने के सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं का कहना है कि सम्भव है कि मुसलमान इतिहासकारों ने ये घटनाएँ अपनी हीनता छिपाने के लिए न लिखी हों। आचार्य शुक्लजी का मत रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द से मिलता है। उनका विचार है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के पुत्र या उनके किसी वंशज के यहाँ रहा होगा। उसने अपने आश्रयदाता के पूर्वजों की प्रशंसा में कुछ छन्द लिखे होंगे। उसमें और छन्द मिल कर एक ग्रन्थ तैयार हो गया और चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन बतला कर वह ग्रन्थ उसके नाम से प्रख्यात कर दिया गया।

रायबहादुर बा० श्यामसुन्दरदासजी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन होना मानते हैं और यह भी मानते हैं कि उसने कुछ छन्द रचे होंगे और वे बहुत से प्रक्षिप्त छन्दों से मिलकर वर्त्तमान ग्रन्थ के रूप में आ गये। अब यह कहना कठिन है कि कितना अंश प्रक्षिप्त है और कितना मूल। मिश्रबन्धु भी पण्ड्याजी के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि यह बात विचार में नहीं आती कि कोई कवि एक कल्पित कवि के नाम से ढाई हजार पृष्ठ का एक ग्रन्थ रच कर खड़ा कर दे, क्योंकि अपने परिश्रम का यश दूसरे को दे देना सहज कार्य नहीं है। रासो के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि उसमें अधिकांश वर्णन वर्त्तमान काल के रूप में आये हैं। जिससे प्रकट होता है कि उसका लिखने वाला समकालीन कवि है। ओझाजी ने भाषा के सम्बन्ध में

जो आपत्ति उठाई है वह यह है कि रासो में प्रायः दस प्रतिशत फारसी-अरबी के शब्द आये हैं और पृथ्वीराज के समय में फारसी शब्दों का इतना प्रचार नहीं था। इस सम्बन्ध मे भी मिश्रबन्धुओं का कथन है कि पृथ्वीराज के समय फारसी शब्दों का चलन था क्योंकि मुसलमान लोग भारतवर्ष में बहुत काल पहले से आये हुए थे और चन्द लाहौर के रहने वाले होने के कारण मुसलमानों की भाषा से परिचित थे। वास्तव में रासो में कई स्तर की भाषा है। कुछ प्राचीन है और कुछ नवीन और कहीं-कहीं प्राचीन का सा आभास है।

चन्द के वंशज नाबूराम ने पं० हरप्रसाद शास्त्री को रासो की एक प्राचीन प्रति दिखलाई थी जिसको वे संवत् १४५५ की लिखी बतलाते हैं किन्तु उस ग्रन्थ की पूरी-पूरी जाँच नहो हुई और जो कुछ जाँच हुई है वह उसकी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न करता है।

अब नयी खोज पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता की ओर होती जा रही है। पण्डित दशरथ शर्मा का कथन है कि बीकानेर पुस्तकालय में जो रासो की प्रति है उसमें वे स्थल नहीं हैं जिन पर कि ओझाजी को आपत्ति है। दूसरी बात यह है कि मुनि जिन विजयजी को अपभ्रंश के प्रबन्धों में चार छन्द ऐसे मिले हैं जिनका रूपान्तर रासो में मिलता है *। इससे यह सिद्ध

* उन छन्दों में से एक का मूल और रूपान्तर नीचे दिया जाता है—नागरी प्रचारिणी पत्रिका में डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी द्वारा लिखित रासो विषयक एक लेख से उद्धृत किये गये हैं।

१—मूल

इक्कु बाणु पहु वीसु जु पइँ कइँबासह मुक्कओ,
उर भिंतरी खडहडिउ धीर कक्खँतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउँ भँमइ सूमेसर नंदण।
एहु सु गडिदाहिमओ खणइ खुद्दइ सइँभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
न जाणउँ चंदबलहिउ कि न वि छुट्टइ इह फलह।

—पृष्ठ ८६ पद्यांक (२७५)

होता है कि रासो का मूल रूप चाहे जितना छोटा हो तेरहवीं शताब्दी में रहा होगा।

रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजी के मत से रासो प्राचीन काल की साहित्यिक पिंगल भाषा का ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में उनका कथन इस प्रकार है—

ये काव्य (वीर-काव्य) दो प्रकार की भाषाओं में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिलकुल राजस्थानी या गुजराती का होता था जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी बहुतायत से मिले रहते थे। यह भाषा जो चारणों में बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देश-व्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी व्रजभाषा का होता था जिसमें थोड़ा-बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। वास्तव में हिन्दी का सम्बन्ध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। पृथ्वीराज रासो से पिङ्गल भाषा का डाक्टर साहब ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

'तिहि रिपुजय पुरहरन को भए प्रथिराज नरिंद'

किन्तु अधिकांश लोग उसे डिंगल भाषा का मानते हैं। राजपूताने की भाषा डिंगल कहलाती है। उसमें प्राचीन हिन्दी का वह रूप है जो अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त नहीं है। डिंगल शब्द का अर्थ टेसीटेरी साहब ने अनियमित

रूपान्तर

एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ।
उर उप्पर थरहर्यौ बीर कष्षंतर चुक्यौ॥
बियो बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन।
गाढो करि निग्रह्यो षनिव गड्यौ संभरि धन॥
थल छोरि न जाइ अभागरो गाड्यौ गुन गहि आगरो।
इम जंपै चंदवरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ॥

—रासो पृष्ठ १४६६ पद्य २१६

(Irregular) बतलाया है। कुछ ने इस शब्द को डिम (डमरु) और गल (गला या ध्वनि) का योग बतलाया है क्योंकि इसके पढ़ने में डमरू वाली ध्वनि होती है। इसका सम्बन्ध राजपूती डींग (डींग मारने) से भी लगाया गया है। कहीं-कहीं छोटे-छोटे छन्दों में अनुस्वारों की भरमार है, जो संस्कृत प्राकृत का अनुकरण मालूम देता है। कहीं-कहीं शब्दों और विभक्तियों के रूप प्राचीन ढङ्ग के हैं और कहीं-कहीं क्रियाएँ नये साँचे में ढली हुई मालूम देती हैं। डिङ्गल के विरोध में पिङ्गल व्रजभाषा का नाम हो गया था। पिङ्गल डिंगल की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और सुव्यवस्थित है। चन्द की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की विशेष है। रासो की भाषा के उदाहरण स्वरूप दो छन्द नीचे दिये जाते हैं:—

बिछ्छितवरं[१] लगन लिन्नोन नरिंदं।
बजी द्वार द्वारं सु आनन्द दुन्द ॥
गढन गढंपत्ति सब बोल न्नंत्ते।
आयँ भूप सब कुटुम्ब संजुते ॥
चले दस सहस्सं असव्वार जानं[२]।
पूरियँ पैदलं तेतीस थानं ॥
मदं गल्लित मत्त से पंच[३] दंती[४]।
मनो सांम[५] पाहार बग पति पंती ॥
षुरासान मुलतान षंधार मीरं।
बलख स्यो बलं तेग अच्चूक तीरं ॥
रुहंगी[६] फिरगी[६] हलब्बी[६] सुमानी[७]।
ठठी[८] ठट्ट भव्लोच ढालं निसानी[९] ॥
मँजारी चषी[१०] मुक्ख जम्बुक्क लारी[११];
हजारी हजारी हुंके जोध भारी ॥

---

१ = शीघ्र। २ = बरात। ३ = पाँचसौ। ४ = हाथी। ५ = काले। ६ = जातियों के नाम। ७ = खूब गर्व से भरे। ८ = दल इकट्ठे हुए। ९ = झण्डे। १० = बिल्ली की सी आँख वाले। ११ = लोमड़ी।

उस समय के कवित्त,, छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या आदि सभी प्रसिद्ध छन्दों का इसमें व्यवहार हुआ हैं। छन्दों के बदलने के कारण यह ग्रन्थ अरुचिकर नही होने पाया है।

जिस प्रकार चन्द बरदाई ने पृथ्वीराज का यश गान किया हैं इसी प्रकार भट्ट केदार मधुकर कवि ने संवत १२१४–१२४३ जयचन्द की कीर्ति का विस्तार किया था। उनके जयचन्दप्रकाश और जयचन्द जस चन्द्रिका दो ग्रन्थ बताये जाते हैं किन्तु वे अप्राप्य हैं।

मुक्तक वीर-गीत-काव्य

बीसलदेव रासो—इस काव्य की रचना संवत १२१२ में हुई थी। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

बारह से बहोत्तराँ मझारि, है जेठ बदी नवमी बुधबार।
नाल्ह रसायण आरम्भइ। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि॥

साहित्य वाचस्पति डाक्टर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाने इस का निर्माण काल सवत १२७२ माना है। उन्हे ना० प्र० सभा की वहत्तर पाठ में वहत्तर अर्थ ही ठीक जचता है।

प्रकाशित प्रति का पाट इस प्रकार दिया है

बारह से वहत्तरा हो मझारि। जेठ वदी नवमी बुधवार

शुक्लजी ने वहोत्तर को द्वादशोत्तर का रूपान्तर माना है

इनका रचयिता नरपति नाल्ह कवि अपने आश्रयदाता बीसलदेव का समकालीन था। इसमें बिग्रह राज चतुर्थ (उपनाम बीसलदेव) के चरित्र का वर्णन है। बीसलदेव बड़े वीर और पराक्रमी राजा थे। इन्होंने मुसलमानों के प्रतिकूल कई सफल युद्ध किये। इनके युद्धों का वर्णन सोमदेव रचित ललित विग्रह राज नाटक में जो कि संस्कृत में लिखा हुआ है पाया जाता है इस रासो में नाल्ह ने बीसलदेव के वीर चरित्रों का वर्णन न कर भोज-

तनया राजमती के साथ उनका विवाह, उनके उड़ीसा चले आने पर रानी का विरह वर्णन और उनके लौट आने आदि का वर्णन किया है।

इसकी भाषा राजस्थानी है। बीच-बीच में साहित्यिक पिंगल भाषा के मिलाने का भी प्रयत्न किया गया है। इसमें कुछ फारसी, अरबी और तुर्की शब्दों का भी समावेश पाया जाता है। गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में फेर-फार होता रहा मालूम होता है। रायबहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। इस ग्रन्थ में शृङ्गार के आधिक्य के कारण कुछ विद्वान इसको वीर-गीतों की संज्ञा में रखते हुये संकोच करते हैं। इस बात में कुछ सत्य अवश्य है किन्तु वीरों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें वीर-गाथा में आ जाती हैं। उदाहरण—करवा बोल न बोलिस नारि। तूं मेल्हसी[१] चित्त बिसारि॥

जीभ[२] न जीभ विगोयनों[३]। दव[४] का दाधा कुपली मेल्हइ[५]॥
जीभ का दाधा नु पांगुरई[६]। 'नाल्ह' कहइ सुणीजइ सब कोइ॥

आल्हखंड—प्रचार की दृष्टि से यह वीर-गीत काव्य बहुत व्यापक है, किन्तु इसका वर्तमान रूप इसके प्राचीन रूप से, जो उपलब्ध नहीं है बिलकुल भिन्न बतलाया जाता है। इसका वर्तमान रूप प्राचीन गीतों के आधार पर रचा हुआ है। इस ग्रन्थ का मूल कर्ता जगनिक (सं० १२३०) है, जो महोबे के चन्देल राजा परमाल के राज-दरबार में रहता था। परमाल जयचन्द का मित्र था। यह ग्रन्थ वास्तव में वीर रसात्मक है। इसमें मुख्यतः आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) की वीर कृतियों का वर्णन है। ये लोग पृथ्वीराज से भी लड़े थे। इसमें वीर बनाफरों की भी ५२ लड़ाइयों और अनेकों विवाहों का वर्णन है। यद्यपि इसमें बहुत सी भौगोलिक अशुद्धियाँ हैं, तथापि यह साधारण पाठकों के लिए बड़ी उत्साहप्रद कथा है।

स्फुट रचनाएँ—वीर गाथाओं में जो भाषा प्रयुक्त होती थी वह तत्का-

---

१ = भूल जा। २ = वचन। ३ = छिपाना। ४ = दावाग्नि। ५ = कोंपल निकल आये। ६ = पनपता है।

चीन बोलचाल की भाषा न थी। साहित्यिक गौरव के लिए लोग प्राचीन भाषा का प्रयोग करना अच्छा समझते थे। बोलचाल की भाषा का प्रवाह स्वतन्त्र रूप से चलता रहा और कुछ कवियों ने उसको भी अपनाया। खुसरो में हम बोलचाल की भाषा का पश्चिमी रूप देखते हैं और विद्यापति में पूर्वी रूप।

खुसरो—(सं० १३१०—१३८२) मीर खुसरो ने संवत् १३४० के आसपास रचना आरम्भ की। इनकी रचनाओं में देहली के आसपास की खड़ी बोली का रूप दिखलाई पड़ता है जिसमें ब्रज भाषा की ओर भी कुछ झुकाव मालूम देता है। खुसरो ने बोलचाल की भाषा को अपना कर अपनी पहेलियों और मुकरियों द्वारा जनता का अच्छा मनोरंजन किया है। खुसरो की कविता से यह बात प्रकट होती है कि खड़ी बोली उर्दू में से फारसी शब्द पृथक करके नहीं बनी वरन् उर्दू फारसी, अरबी शब्द भर कर बनी है। खुसरो की पहेलियों के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

जब मोरे मन्दिर में आवे।
सोते मुझको आन जगावे॥
पढ़त फिरत वह विरह के अच्छर।
ऐ सखि साजन! ना सखि मच्छर॥१॥
वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय॥
मीठे लागे वाके बोल।
ऐ सखि साजन! ना सखि ढोल॥

*　　*　　*　　*

एक थाल मोती से भरा,
सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे,
मोती उससे एक न गिरे॥—'आकाश'
ना मारा ना खून किया,
मेरा सिर क्यों काट लिया॥—'नाखून'

श्याम वरण और दाँत अनेक,
लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे,
और कहे तू आरी॥

विद्यापति—ये महाकवि मैथिल कोकिल के नाम से प्रसिद्ध हैं। गीत-काव्य लिखने के कारण अभिनव जयदेव भी कहलाते हैं। इन्होंने अपने देश की मैथिल भाषा में बड़े सुन्दर पद रचे हैं। वैष्णवों में इनका विशेष मान भी है। यद्यपि इनकी कविता प्रधानतया राधा और कृष्ण के ही सम्बन्ध में लिखी गई है, तथापि उसमें शृङ्गार-भावनाएँ अधिक हैं। इस लिए बहुत से आलोचक इनको भक्त न कहकर शृङ्गारी कवि ही कहते हैं। यह प्रश्न बड़ा विवादग्रस्त है। विद्यापति का शृङ्गार वर्णन भक्त की मर्यादा से बाहर अवश्य हो गया है किन्तु ऐसा कहीं-कहीं सूर ने भी किया है और सूर की गणना भक्त कवियों में होती है। विद्यापति के हृदय का उल्लास कहीं-कहीं सूर का सा ही है, यद्यपि वे उपासना में शैव थे। उन्होंने शिवजी की भक्ति सम्बन्धी बड़ी सुन्दर नचारियाँ लिखी हैं। दृष्टिकोण के भेद की बात है। यदि इन पदों को कृष्ण भगवान की लीला की भावना से देखते हैं तो ये ही भक्ति के पद हो जाते हैं। कहीं-कहीं पदों का उद्दाम शृङ्गार तथा बार-बार आश्रयदाता का उल्लेख भक्ति भावना से दूर पड़ता है। इनका नख-सिख वर्णन भी भक्त कवियों का सा नहीं है। भक्त लोग पहले चरणों का वर्णन करते हैं और इनके वर्णन मुख या वक्षस्थल से आरम्भ होते हैं। इन्होंने कृष्ण को माधव और हरि कहा है। शृङ्गारिक होते हुए भी वे भारतीय परम्परा में कृष्ण की ईश्वरत्व भावना से बंधे हुए भी किन्तु हृदय की शृङ्गार भावना ने उनको दबा लिया है। शिवजी उनके उपास्य थे, यह निर्विवाद है किन्तु फिर भी नायका के कुचों को उन्होंने कनक शंभु कहा है। कृष्ण जी की भक्ति के भी उन्होंने कुछ अच्छे पद लिखे हैं। हम यही कह सकते हैं कि विद्यापति में भक्ति भावना थी उस पर शृङ्गार भावना ने विजय पाली थी

किन्तु उनके पदों को सुनकर चैतन्य महाप्रभु भक्ति के आवेश में लोट-पोट हो जाते थे। यह भावना की बात है।

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।"

चैतन्य महाप्रभु के कारण विद्यापति के पदों का मान बढ़ा है।

आनन्दकुमार स्वामी तथा ग्रियर्सन इनके पदों को जीव और परमात्मा के सम्बन्ध का रूपक मानते हैं। सब पदों में इस रूपक का निभाया जाना कठिन कार्य हो जायगा।

बंगाली लोग इनकी भाषा को बंगाली के अन्तर्गत बतलाते हैं और हिन्दी भाषा-भाषी इनके पदों को हिन्दी साहित्य का अंग मानते हैं। यद्यपि बिहारी होने के कारण इनकी कविताओं में बंगलापन अवश्य है तथापि अधिकांश शब्द-भण्डार हिन्दी का ही है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी बिहारी हिन्दी के अधिक निकट है। उसका सकार उच्चारण हिन्दी का सा ही है। हिन्दी की भोजपुरी बोली बिहारी से बहुत कुछ मिलती है।

विद्यापति संवत् १४६० में तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ रहते थे। इस राजवंश से इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। इनकी कविता में राजा शिवसिंह का विशेष रूप से उल्लेख आया है। इनकी मृत्यु ३२१ लक्ष्मणाब्द अर्थात् संवत् १५६७ विक्रमी में हुई थी। उनके एक प्रसिद्ध पद को उदाहरण स्वरूप लीजियेः—

गुरू-गोरखनाथ

इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाओं में सिद्धों के स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध संयम और सदाचार तथा हठयोग का जो एक प्रकार से पतञ्जलि के योग का शैव रूप था प्रतिपादन हुआ है। कबीर पर इन रचनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। इनके योग की घोर शुष्कता को सूरने कुछ शृङ्गारिक सरसता के साथ (विशेषकर भ्रमर गीत में) और तुलसी ने मर्यादा के साथ मिटाया है। इन्होंने गद्य और पद्य दोनों ही लिखा है। इनके चालीस ग्रन्थ बतलाये जाते हैं किन्तु उनमें अधिकांश उनके नाम से

उनके शिष्यों द्वारा लिखे हुए हैं। साहित्य सम्मेलन से इनकी साखी का संग्रह प्रकाशित होगया है।

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए तिल-तिल नूतन होय॥
जन्म अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
से हो मधु बोल सवनहिं सूनल स्रुति पथ परस न भेल॥
कत मधु जामिनि रभस गमाओल न बूझल कइसन केल।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल तइए ओ हिय जुड़ल न गेल॥
कत विदगध जन रस अनुमोदई अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाएत लाखे न मिलल एक॥

काल-क्रम से विद्यापति का वर्णन आदि काल में आता है किन्तु विषय-क्रम से यह कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के आदि में आते हैं। इस काल के ग्रन्थों में अधिकांश में वीरों का गुणगान होने के कारण यह वीरगाथा काल कहा गया है। कुछ लोगों ने वीसलदेव रासो जैसे ग्रन्थ में वीर-रस के प्रभाव के कारण इस काल को चारण काल कहना अधिक पसन्द किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक काल में आगे की प्रवृत्तियों का सूत्रपात्र हो गया था। वीरगाथा की कथाओं में प्रेमकथाओं के बीज थे। गोरखनाथ में हम कबीर और सन्त साहित्य का आदि स्रोत पाते हैं। विद्यापति में कृष्ण-भक्ति और रीतिकाल के शृङ्गारिक एक दोनों के सूत्र हैं। तुलसी और सूर में गोरखनाथ का सीधा प्रभाव तो नहीं था किन्तु उसकी प्रतिक्रिया अवश्य है।

पूर्व मध्यकाल अर्थात् धार्मिक काल

भक्ति-काल

सामान्य परिचय और विशेषतायें—हिन्दी का आदि काल एक प्रकार लड़ाई-झगड़े का युग था। उसमें अशान्ति थी और एक प्रकार की राजनैतिक आँधी चल रही थी। किन्तु आँधी हमेशा नहीं रहती। आँधी के बाद शान्ति और स्थिरता आती है। भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण में भी अपेक्षाकृत शान्ति उपस्थित हुई, लोगों को दम लेने की फुरसत मिली। राजपूत-वीरता का ह्रास हो चुका था और लोग अब-तब अपनी परिस्थिति से अनुकूलता प्राप्त करते जाते थे। राजपूतों में जब तक कुछ शक्ति थी, हिम्मत और साहस था तब तक वीरगाथाओं से थोड़ा बहुत काम चला। किन्तु बल के क्षीण होने पर उत्साह प्रदान से भी कोई काम नहीं चलता। दीपक बुझ जाने पर तेल देने से कोई लाभ नहीं होता।

युद्ध के समय वीर-गाथाओं का काव्य में आना स्वाभाविक ही था किन्तु शान्ति के समय एक दूसरे ही प्रकार के काव्य की आवश्यकता थी। मुसलमान लोग युद्ध से कुछ ऊब गये। वे चाहते थे कि पराजित देश में शान्ति हो और वहाँ के लोगों के सम्पर्क में आकर कुछ अपनी जड़ जमायें। हिन्दू लोग भी यह चाहते थे कि उनका धर्म ऐसे रूप में आये कि मुसलमान लोग उसका खण्डन न कर सकें। इतना ही नहीं यदि सम्भव हो तो वे विरोध को छोड़ कर उनके साथ मिलें। मुसलमानों की भी इच्छा थी कि वे हिन्दुओं के निकट आयें। तत्कालीन जनता में दोनों ओर से मिलन प्रवृत्ति चल रही थी।

इसके अतिरिक्त एक प्रवृत्ति और भी थी। कुछ लोग अपना स्वत्व और धार्मिक व्यक्तित्व अलग रखना चाहते थे। वे लोग मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। वे संसार को 'सियाराममय' मान कर 'जोरि जुग पानी'

प्रणाम करने को तैयार थे, किन्तु वे ऐक्य की वेदी पर अपने इष्ट देवों के प्रति अनन्य भावना का बलिदान नहीं करना चाहते थे। भक्ति के द्वारा मृत-प्राय हिन्दू जाति में एक नवीन जीवन का संचार करना उनका अभीष्ट था। देश में चारों ओर जो सगुण भक्ति का आन्दोलन चल रहा था, उससे उनकी हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी। जो उपदेश श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, तुकाराम आदि सन्तों और महात्माओं ने जनता को दिये थे वे सूर और तुलसी की काव्यमयी धारा में एक नवीन रूप से अवतरित हुए।

इस विवेचना का यह अभिप्राय न समझा जाय कि हिन्दी का भक्तिभाव मुसलमानों से प्रभावित है। हमारे कवियों ने सामग्री तो अपने घर से ली किन्तु उनको कुछ उत्तेजना मुसलमानों से अवश्य मिली। उस समय की परि-स्थितियों में मुसलमानों के अस्तित्व की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें होती हैं। या तो मनुष्य उन बातों में प्रवृत्त हो जिनमें उसकी श्रेष्ठता अक्षुण्ण बनी हुई है। एक ओर की श्रेष्ठता दूसरी ओर की गिरावट की क्षति पूर्ति कर देती है। ऐसी मनोवृत्ति में दूसरी प्रवृत्ति यह होती है कि विजेताओं के हास-विलास में शामिल होकर उनके सहवास में एक प्रकार की समता का अनुभव करके खोये स्वाभिमान को भूल जायँ अथवा स्वतन्त्र रूप में हास-विलास की मदिरा में अपने पराजय जन्य दुख को भुला दें। भक्ति-काल में पहली प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं और रीति काल में दूसरी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

इस प्रकार उस काल में इन तीन प्रवृत्तियों की मुख्यता थी और उनके फल-स्वरूप उन की त्रिवेणी स्वरूपा तीन धारायें बहीं। वे इस प्रकार थीं:—

१- निर्गुण पन्थ की ज्ञानाश्रयी शाखा—यह हिन्दुओं की ओर से हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित करने की इच्छा का फल थी। सन्त कवियों ने निर्गुणवाद में हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट आने की सम्भावना देखी। मुसलमान लोग एकेश्वरवाद के मानने वाले थे, उनका

मूल मन्त्र था 'ला इला इल इलाह मुहम्मद रसूल अल्लाह' अल्लाह के सिवाय दूसरा अल्लाह नहीं है और मुहम्मद खुदा का रसूल या दूत है। वे लोग देवी-देवताओं की पूजा में हिन्दुओं का साथ नहीं दे सकते थे। वे बहु-ईश्वर-वाद के विरुद्ध थे। हिन्दू लोग भी बहु-ईश्वरवादी नहीं हैं। हिन्दू लोग भी सब देवी-देवताओं को एक परमात्मा का ही रूप मानते हैं (एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति)। हिन्दुओं का निर्गुणवाद खुदावाद के बहुत निकट आ सकता था। निर्गुणवाद में खुदा की एकता और निराकारता लगी हुई है। सन्त कवियों ने निर्गुणवाद के आधार पर ही राम और रहीम की एकता कर एवं हिन्दू और मुसलमानों की निरर्थक रूढ़ियों का विरोध कर दोनों जातियों में अविरोधभाव उत्पन्न करने का उद्योग किया। महात्मा कबीर इस धारा के प्रमुख प्रवर्तक थे। महात्मा कबीर का पालन-पोषण यद्यपि मुसलमानों के घर में हुआ था तथापि रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण करने के कारण उनको हम हिन्दू कहेंगे। इसके अतिरिक्त इनकी चलाई हुई शाखा को हिन्दुओं ने ही आगे बढ़ाया।

२—**प्रेममार्गी शाखा**—यह काव्य-धारा मुसलमान सन्तों और सूफियों की सद्भावना का फल था। मुसलमानों का सूफी सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के अधिक निकट आ जाता है। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद, अर्थात् सारा संसार ही ईश्वर है, के निकट पहुँच जाते हैं। सूफी लोग कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा कुछ मुलायम तबियत के होते हैं। वे लोग ईश्वर को अपने प्रेम-पात्र के रूप में देखना चाहते हैं (साधारण शरीयत को मानने वाला मुसलमान ईश्वर के साथ मालिक और बन्दे का सम्बन्ध मानता है)। उन सन्तों ने हिन्दू प्रेमगाथाओं को लेकर काव्य रचना की और उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे।

३—**भक्तिमार्गी शाखा**—यह काव्य-धारा उन भक्तों के अन्तस्तल से प्रवाहित हुई जो अपने इष्ट देवों की पूजा और उपासना में मग्न थे। वे देश और जाति का कल्याण भगवद्भजन में ही देखते थे। उनको राज दरबारों के ऐश्वर्य में तनिक भी आकर्षण न था। वे लोग मुसलमानों से विरोध नहीं

रखते थे लेकिन उनमें मिलने की इच्छा भी नहीं थी। वे लोग तो बादशाह का निमन्त्रण आने पर भी कह देते थे 'सन्तन कहा सीकरी सों काम।' भक्ति मार्गी शाखा दो उपधाराओं में बही—१-कृष्णभक्ति-शाखा, २—राम-भक्ति-शाखा। सूरदासजी कृष्णभक्ति-शाखा के प्रमुख कवि थे और तुलसीदास जी रामभक्ति-शाखा के प्रवर्तक थे।

हिन्दू धर्म में भगवान के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप मान्य हैं। सन्तों ने निर्गुण रूप को अपनाया, उन्होंने सगुण और निर्गुण दोनों को। सन्त लोग मुसलमानी धर्म से भी प्रभावित थे। भक्त लोग विष्णुभगवान के विशेष कर राम और कृष्ण के अवतारों को मानते थे, इसीलिए वैष्णव भी कहलाते थे। हिन्दू धर्म का पूर्ण व्यक्तित्व भक्त कवियों में दिखाई पड़ता है।

भक्तिकाल की समान भावनाएँ—जैसा ऊपर कहा गया है हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव थीं। या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या विलास में पड़ कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में पहली प्रवृत्ति प्रबल रही और रीतिकाल में दूसरी। भक्तिकाल में चार शाखायें अवश्य थीं किन्तु उनमें कुछ समान भावनायें थीं जिनके कारण वे सब एक सम्मिलित नाम से पुकारी जा सकती हैं। वे बातें सन्त और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१—नाम की महत्ता—जप, कीर्तन आदि सन्तों, सूफियों और भक्तों में समान रूप से मान्य हैं। सूफियों और कृष्ण भक्तों में कीर्तन का प्राधान्य है।

तुलसी ने भी राम के नाम को राम से भी बड़ा माना है।

२—गुरु की मान्यता—कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा कहा है। जायसी ने भी गुरु की वन्दना की है। तुलसी ने मानस के आरम्भ में 'बन्दों गुरु पद पद्म परागा' और सूर ने 'बल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहि अँधेरो' गाया है।

३—भक्ति भावना का प्राधान्य—चारों सम्प्रदायों में भक्ति भावना

का मान है। कबीर ने भी भक्ति को मुख्यता दी है। 'हरि भक्ति जाने बिना बूडि मुआ संसार' प्रेम मार्गियों का प्रेम भक्ति का ही रूप है और भक्त तो भक्त हैं ही। भक्तों ने भी ज्ञान का विरोध नहीं किया है, केवल भक्ति-विरोधी ज्ञान का खण्डन किया है।

४—अहंकार का त्याग—यह भी भक्ति का ही दूसरा रूप है। सच्चा भक्त चाहे सगुणवादी हो चाहे निर्गुणवादी अहंकार नहीं रख सकता।

अब हम इन शाखाओं की विशेषताएँ संक्षिप्त रूप से देखकर इनके विशिष्ट-विशिष्ट कवियों का पृथक-पृथक परिचय देंगे।

ज्ञानाश्रयी शाखा—(इस शाखा के कवि, सन्त कवि कहलाते हैं।)

१—ये लोग निर्गुणवादी थे और प्रायः नाम की उपासना करते थे।

२—ये लोग रूढ़िवाद और मिथ्या आडम्बर के विरोधी थे।

३—ये लोग गुरु को करीब-करीब ईश्वर की बराबर महत्ता देते थे।

४—जाति-पाँति के बन्धनों को नहीं मानते थे। 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई हरि को भजे सो हरि का होई'। जब मुसलमानी मत में सब बराबर थे तब हिन्दुओं की जाति-पाँति सम्बन्धी विषमताएँ और भी अखरने लगी थीं। शूद्रों की स्थिति विशेष रूप से खराब थी।

५—ये लोग साधारण धर्म को तो मानते थे किन्तु साम्प्रदायिक या वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म के पक्ष में न थे। वैयक्तिक साधना पर अधिक जोर देते थे।

६—इनकी भाषा स्वतन्त्र और आडम्बर रहित थी। सन्त लोग चारों ओर विचरण करते थे। इस कारण से तथा प्रचार की भाषा होने के कारण उनकी भाषा खिचड़ी सधुक्कड़ी भाषा हो गई थी।

कबीर—(सं० १४१५-१५७५)* इन महात्मा के जन्म के सम्बन्ध में किवदन्ती है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से एक महात्मा (रामानन्दजी) के आशीर्वाद के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे। लोक-लाज-वश

---

* कबीर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में तथा उनके काव्य पर विस्तृत विवेचन के लिए लेखक का हिन्दी काव्य विमर्श देखिए।

इनकी माता ने नवजात शिशु का परित्याग कर दिया था और इसके बाद नीरू नाम के जुलाहे ने दयावश इनको पाल लिया। पीछे से यह बालक कबीर कहलाया। इनकी शादी लोई नाम की एक स्त्री से हुई थी और इनके कमाल और कमाली नाम के दो बच्चे भी थे। ये अपने को जुलाहा मानते थे और अपने अक्खड़पन के कारण जुलाहा होने का गर्व भी करते थे—

'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर गिआना'

इनको अपने घर का काम करना पड़ता था किन्तु उसमें विशेष रुचि न थी। आरम्भ से ही ये भावुक और भक्त थे और बड़ी युक्ति के साथ इन्होंने श्री रामानन्दजी से दीक्षा प्राप्त की थी—

'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये'

मुसलमान लोग इनको शेख तकी का शिष्य बतलाते हैं। किन्तु जिस प्रकार से उन्होंने अपनी कविता में शेख तकी को सम्बोधित किया है उससे उसमें सन्देह होता है। कुछ लोग इनके रामानन्द के शिष्य होने में आपत्ति करते हैं और उपर्युक्त पंक्ति को प्रक्षिप्त बतलाते हैं। कबीर पर रामानन्दजी के अतिरिक्त शङ्कराचार्य तथा नाथपन्थी साधुओं एवं सूफियों का भी प्रभाव था। रामानन्द से उन्होंने मांस-भक्षण-निषेध और वैष्णवी दया का भाव लिया, नाथ-पन्थियों से हठयोग के सिद्धान्त ग्रहण किये, शङ्कराचार्य के माया और अद्वैतवाद के विचारों को अपनाया। सूफी फकीरों से प्रेम की साधना ली और मुसलमानी शरीयत के मानने वालों से मूर्ति और तीर्थ का खण्डन-मण्डन लिया। नाथ-पन्थियों में भी समता का भाव था किन्तु इस सम्बन्ध में वे मुसलमानों से भी प्रभावित हुए।

ये महात्मा बड़े स्वतन्त्र प्रकृति के थे। ये रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी थे और इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों की खूब हँसी उड़ाई है। 'इन दोउन राह न पाई।' ये अपढ़ होते हुए भी बहुश्रुत थे। इनके वचनों में हठयोग तथा वेदान्त की अच्छी झलक मिलती है। इन्होंने कहीं-कहीं प्रभावो-

त्पादन के लिये बहुत से विरोधात्मक भाव भी लिखे हैं। जैसे 'नैया में नदिया डूबी जाय।'× रूढ़िवाद के विरोध में ही इन्होंने काशी छोड़ कर मगहर में शरीर त्याग किया था। 'जो काशी तन तजै कबीरा रामै कौन निहोरा'। धर्मदास इनके प्रधान शिष्यों में थे। ये जाति के वैश्य थे और इनके बाद ये ही इनकी गद्दी पर बैठे।

सिद्धान्त—इनके ईश्वर सम्बन्धी विचार बहुत ऊँचे हैं। इन पर शाङ्करवाद का पूरा प्रभाव था, और ये जीव ब्रह्म की पूर्ण एकता में विश्वास रखते थे।—'हेरत हेरत हेरिया रहा कबीर हिराय, बुंद समानी समुद में सो कत हेरी जाय।' इनकी वाणी में रहस्यवाद की मात्रा अधिक रूप में पाई जाती है। हिन्दू प्रथा के अनुसार इन्होंने जीव को दुलहिन माना है और परमात्मा को प्रियतम बतलाया है। जीव का विरह वर्णन अच्छा किया है। दुलहिन सदा दूल्हा से मिलने के लिये उत्सुक रहती है। इन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। इनके सिद्धान्त निर्गुणवाद के हैं, किन्तु लोगों को समझाने के लिये और शुष्कता में सरलता लाने के निमित्त इन्होंने थोड़ा शृंगार का पुट दे दिया है किन्तु उसकी 'झीनी-बीनी चादर' में इनका निर्गुणवाद छिपाये नहीं छिपता। 'सेज' अवश्य रहती है, किन्तु वह होती शून्य की है इसलिये वह प्रायः सूनी ही रहती है। उपासना में इन्होंने राम नाम की महत्ता स्वीकार की है, किन्तु ये दाशरथी राम के उपासक न थे 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम न जाना' ये तो निरंकार शब्द के उपासक थे और एक ही रूप को सारे संसार में देखते थे—"साधो एक रूप सब माँही।

अपने मन बिचारि के देखो कोई दूसरा नाहीं॥"

× पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका में दिखलाया है कि उलटवाँसियों की परम्परा बौद्धों की सहजयान शाखा से चली आती है। जैसे 'बैल ब्यान गाय बाँझ।' कबीर में वर्णित शून्य का सम्बन्ध बौद्धों के शून्यवाद से लगाया जाता है।

कबीर ने अपने परमात्मा को अपने पास में ही देखा है। और हठ-योग की साधना में सारे ब्रह्माण्ड और परमात्मा को शरीर के भीतर ही दिखाया है।

अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप इन्होंने नीति सम्बन्धी दोहे भी अच्छे कहे हैं। कबीर में केवल ज्ञान पिपासा ही न थी वरन् धर्म प्रचार की भी इच्छा थी। इस इच्छा को वे अपनी कविता में दबा नहीं सके। इन्होंने समता भाव का प्रचार कर शूद्रों की स्थिति को सुधारा था। इस सम्बन्ध में वे अपने समय से आगे थे।

काव्य और भाषा—कबीर की वाणी, बीजक नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। इनकी भाषा में खड़ी बोली, अवधी, पूर्वी (बिहारी) आदि कई बोलियों का सम्मिश्रण है। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिह्नों में 'से' 'कै' 'सन' 'सा' अवधी के हैं। 'को' ब्रज का है। 'थै' राजस्थानी का शब्दों को तोड़ा मरोड़ा भी बहुत है। यत्र-तत्र ब्रजभाषा का भी समावेश है और पंजाबी शब्दों की भी कमी नहीं है। भाषा जोरदार है जो कि उनकी तीव्र अनुभूति का परिचय देती है। उसमें कविता की रूढ़ियों और अलंकार के आडम्बर का अभाव-सा है। किन्तु जहाँ पर स्वाभाविक रूप से भाषा के प्रवाह में अलंकार आ जाते हैं वहाँ पर उनका चमत्कार पूरी तरह से दिखाई पड़ता है। ईश्वरीय सम्बन्ध की रहस्यमयता में थोड़े प्रकाश की झलक लाने के लिये उन्होंने रूपकों और अन्योक्तियों से काम लिया है। इनको छन्द-शास्त्र के नियमों का कम ज्ञान था। इनके दोहे पिंगल की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते। इनकी कविता का चमत्कार काव्य के ऊपरी नियमों से नहीं, वरन् इनकी हृदय की सचाई और तीव्र अनुभूति में है। रहस्यवाद के अनुकूल रूपक अन्योक्ति आदि अलंकारों का भी समावेश हो गया है क्योंकि रहस्यवाद के गूंगे के गुड़ के आनन्द को सेना वैना द्वारा ही अर्थात अन्योक्तियों और रूपकों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है।

इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

गुरु गोविन्द तो एक हैं, दूजा यहु आकार ।
आप मेट जीवत मरै तो पावे करतार ॥
कबीर हरि रस यों पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥
कबीर पढ़वा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ ।
बावन आखर सोधि कर, ररै ममैं चित लाइ ॥
कबीर माला मन की, और संसारी भेष ।
माला पहरयाँ हरि मिलै, तो अरहट के गलि देख ॥
दुलहिनी गावहु मङ्गलाचार, हमरे घर आये राम भतार ।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्त बराती ।
राम देव मोहि ब्याहन आये, मैं जोबन मदमाती ॥
सरिर सरोवर वेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा ।
राम देव संग भाँवरि लैहैं धन धन भाग हमारा ॥
सुर तेंतसूं कैतुक आये मुनिवर सहस अठासी ।
कहै कबीर मोहिं ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी ॥

रैदास—इनको रविदास भी कहते हैं । ये भी रामानन्दजी के शिष्यों में से थे । ये जाति के चमार थे । 'कह रैदास खलास चमारा' । ये मीराबाई के गुरु कहे जाते हैं । इनके पद भी गुरु-ग्रन्थ साहब में संगृहीत हैं । इनकी कविता जन-सुलभ है । कबीर की भाँति इनकी भी सम्प्रदाय है । इनकी कविता का एक उदाहरण लीजिए—

प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी । जाकी अङ्ग अङ्ग बास समानी ॥
प्रभुजी तुम बनघन हम मोरा । जैसे चितवत चन्द चकोरा ॥
प्रभुजी तुम माली हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा । ऐसो भगति करै रैदासा ॥

तुम और मैं की परम्परा में इस युग में बहुत सी कविताएँ लिखी गईं निरालाजी की कविता प्रसिद्ध ही है ।

गुरु नानक—ये महात्मा सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका जन्म कार्तिक की पूर्णिमा सं० १५२६ तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ था। इनके पिता का नाम कालूचन्द और माता का नाम तृप्ता था। इनका विवाह संवत् १५४५ में गुरुदासपुर में मूलचन्द खत्री की सुलक्षणा नाम्नी कन्या से हुआ। उसके संयोग से इनके श्रीचन्द, लक्ष्मीचन्द नाम के दो पुत्र हुए। श्रीचन्द उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। वैसे तो सिक्ख भी हिन्दू ही हैं किन्तु उदासी लोग हिन्दू धर्म को अधिक मानते हैं।

महात्मा नानक जन्म से ही बड़े त्यागी और साधु-सेवी थे। एक बार इनके पिता ने एक बड़ी रकम व्यापार के लिए सौदा खरीदने को दी। इन्होंने उस रकम को साधु-सेवा में लगा दिया और पिता के पूछने पर कह दिया कि सच्चा सौदा खरीद लिया।

इन्होंने भगवद्भक्ति के भजन गाये हैं। ये 'नाम' के उपासक हैं किन्तु कबीर की भाँति इन्होंने आकाश-पाताल के कुलावे नहीं मिलाये हैं और न उलटवाँसियाँ कही हैं। इन्होंने बड़े सरल हृदय से ईश्वर-भक्ति और सदाचार का उपदेश दिया है। ईश्वर-भक्ति के साथ सङ्गठन की भी शिक्षा दी है। इन्होंने हिन्दू संस्कृत से सम्बन्ध विच्छेद न करते हुए अपने मत में एकेश्वरवाद का प्राधान्य रखा है। इन्होंने हिन्दुओं को विचार-भूमि तथा रण-भूमि दोनों में मुसलमानों से टक्कर लेने योग्य बनाना चाहा है। इनकी वाणी श्री गुरुग्रन्थ साहब में संग्रहीत है। कुछ भजन तो पंजाबी में हैं और कुछ देश की प्रचलित काव्य-भाषा हिंदी में हैं जो कहीं खड़ी बोली के रूप में है और कहीं ब्रजभाषा के रूप में।

इनका देहान्त १५९६ में हुआ। इनकी वाणी में बड़ी विनय है। ये सदाचार के बड़े पक्षपाती थे। इनकी कविता के उदाहरण--नीचे दिये जाते हैं—

सूरा एक न आँखियन, जो लखनि दला में जाय।
सूरे सोई 'नानका' जो मनणु हुकम रजाय॥

हिरदे जिनके हरि बसे, से जन कहियहि सूर।
कहो न जाई 'नानका', पूरि रह्या भरपूर॥
मनकी दुविधा ना मिटै, मुक्ति कहाँ ते होइ।
कउडी बदले 'नानका' जन्म चल्या नर खोइ॥

× × ×

जो नर दुख में दुख नहिं माने।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोंह अभिमाना।
हरष शोक तें रहें नियारो, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि के, जग तैं रहै निरासा।
काम-क्रोध जेहि परसैं नाहिन, तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही, तिन्ह यह जुगति पिछानी।
'नानक' लीन भयो गोविंद सों ज्यों पानी संग पानी॥

पंजाबी मिश्रित भाषा का एक पद लीजिए—

इस दमदा मैन्हू कीवे भरोसा; आया आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, नहीं देखा नहीं कहीं दिखाया॥
सोच विचार करे तन मन में जिसने ढूँडा उसने पाया।
नानक भक्तनके पद परसे निसदिन राम-चरन चित लाया॥

दादूदयाल—(सं० १६०१–१६६०) ये महात्मा गुजरात के रहने वाले थे। इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था किन्तु इनका शरीरान्त उदयपुर के पास नराना नामक गाँव में हुआ था। कबीर की भाँति इनके नाम से भी दादूपन्थ चल रहा है। कुछ लोग इनको मुसलमान बतलाते हैं और कहते हैं कि इनका असली नाम दाऊद था। ये लोग भी निराकार के उपासक हैं। इनके विचारों की विवेचना आचार्य क्षितिमोहनसेन ने अपने 'दादू' नाम के बङ्गाली ग्रन्थ में बड़े मार्मिक ढङ्ग से की है। इस पन्थ के लोग सत्तनाम कह कर अभिवादन करते हैं। इनकी वाणी हिन्दी के अतिरिक्त

राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी में भी पाई जाती है। इनकी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी है जिसमें राजस्थानी का मेल है। अन्य निर्गुण सन्तों की वाणी की भाँति इनकी वाणी में भी खड़ी बोली की क्रियाओं की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है। यत्र-तत्र फारसी अरबी के शब्दों का भी समावेश दिखलाई पड़ता है। कबीर की भाँति ये महात्मा खण्डन-मण्डन में नहीं पड़े। इनकी वाणी में बड़ी सरलता के साथ तत्व-विवेचन किया गया है—

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढैं ते और॥
दादू दीया है भला, दिया करो सब कोइ।
घर में धरा न पाइये, जो कर दिया न होइ॥
यह मसीत यह देहरा, सतगुरु दिया दिखाय।
भीतर सेवा बन्दगी, बाहिर काहे जाय॥
सुख का साथी जगत सब, दुख का नाहीं कोय।
दुख का साथी साँइयाँ, दादू सतगुरु होइ॥
*   *   *   *
भाई रे, ऐसा पन्थ हमारा।
द्वे ख रहित पन्थ गह पूरा अबरन एक अधारा॥
बाद बिबाद काहू सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा।
समदृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप विचारा॥
मैं, तैं, मेरी यहु मति नाहीं निरवैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आपा पर निरालम्ब निराधारा॥
काहू के संगी मोह ना ममिता संगी सिरजनहारा।
मन ही मन मनसू समझि सयाना आनन्द एक अपारा॥
काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
इहि पन्थ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहजि सँभारा॥

सुन्दरदास—(सं० १६५३-१७४६) इनका जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत द्योसा नगरी में हुआ था। ये जाति के खण्डेलवाल वैश्य थे। ये दादू-

दयाल से अधिक प्रभावित हुए थे। अन्य संत कवियों की भाँति ये अपढ़-कुपढ़ नहीं थे। इनका विधिवत् विद्याभ्यास हुआ प्रतीत होता है। ये काव्य रीति से भी परिचित थे। इन्होंने सवैये अच्छे लिखे हैं। सुन्दर विलास इनका प्रधान ग्रन्थ है। इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी परिमार्जित ब्रजभाषा है। इन्होंने ज्ञान के अतिरिक्त नीति सम्बन्धी छन्द भी लिखे हैं। इनकी रचना कवित्त, सवैयों में अधिक हुई है। इनकी कविता में यमक और अनुप्रास शब्दालङ्कार और उत्तमोत्तम अर्थालङ्कार भी मिलते हैं। नीचे इनकी कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन्होंने चित्रकाव्य, छत्रबन्ध, कमल-बन्ध, नागबन्ध आदि भी लिखे हैं—

बोलिए तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होइ,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिए।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की रीति जाने,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए,
गाइये तो तब जब गाइबे को कंठ होय,
स्रौन के सुनत ही मनै जाहि गहिए॥
तुकभंग, छन्दभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नाहिं कहिए॥

× × × ×

पुरुष प्रकृति संयोग जगत उपजत हैं ऐसे।
रवि-दर्पण-दृष्टान्त अग्नि उपजत हैं तैसे॥
सुई होइ चैतन्य यथा चुम्बक के सङ्गा।
यथा पवन संयोग उदधि में उठहि तरङ्गा॥
अरु यथा सूर संयोग पुनि, चक्षु रूप को गहत है।
यों जब चेतन संयोग से सृष्टि उपजती कहत है॥

+ + + +

वेद थके कहि तन्त्र थके कहि, ग्रन्थ थके निस बासर गातैं।
शेष थके शिव इन्द्र थके पुनि पोख कियो बहुभाँति बिघातैं॥

पीर थके अरु मीर थके पुनि धीर थके बहु बोलि गिरातें।
सुन्दर मौन गही सिध साधक कौन कहै उसकी मुख बातें॥

मलूकदास—(सं० १६३१-१७३६) ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे। इनकी भाषा साधारण सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत थी। इनको छन्दों का भी ज्ञान था। इनकी रत्नखान और ज्ञानबोध नाम की दो पुस्तकें हैं। आलसियों का गुरुमन्त्र 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' इन्हीं का बनाया हुआ है। इससे प्रगट होता है कि ये बड़े मनमौजी और ईश्वर पर विश्वास रखने वाले थे। इनकी कविता के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

दीनदयाल सुनी जबतें तबतें हिय में कुछ ऐसी लसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ मैं तेरे हित की पट खेंच कसी है॥
तेरोइ एक भरोसो मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है।
ऐहो मुरारि पुकारि कहों अब मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है॥

ना वह रीझै जप तप कीन्हे ना आतम के जारे?
ना वह रीझै धोती नेती ना काया के पखारे॥
दया करै धरम मन राखै घर में रहे उदासी।
अपना सा दुःख सबका जाने ताहि मिले अविनासी॥
सेहे कुसबद बादहू त्यागै छांड़े गर्व गुमाना।
यही रीझ मेरे निरङ्कार की कहत मलूक दिवाना॥

अक्षर अनन्य—इनका जन्म संवत् का पता नहीं है किन्तु ये संवत् १७१० के करीब वर्तमान थे। ये दतिया रियासत के रहने वाले थे और कुछ दिनों दतिया के राजा पृथ्वीचन्द के दीवान थे। महाराजा छत्रसाल ने इनसे दीक्षा ली थी। इन्होंने योग और वेदान्त के कई सुन्दर ग्रन्थ रचे हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त धर्मदास (ये कबीर के प्रधान शिष्य थे इनका समय १४७५ से १६०० तक माना जाता है) निश्चलदास, जगजीवनदास, (सं० १७७५) दूलनदास, मानीसाहब, बुल्लासाहब, सहजोबाई, (१८००)

तुलसी साहब, (१८४५) पलटूदास आदि अनेक संत कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी मधुर वाणी से हिन्दी साहित्य का भण्डार भरा है।

इन कवियों में निश्चलदास जी का वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थ (विचार-सागर) बड़ा पाण्डित्य पूर्ण है। इसकी टीका भी लिखी गई।

प्रेम मार्गी शाखा

सूफी सम्प्रदाय—सूफी शब्द सूफ से बना है, जिसका अर्थ सफेद ऊन का है। सूफी लोग विलास शून्य सरल जीवन व्यतीत करने के कारण मोटे ऊन के कपड़े पहनते थे। एक मत यह भी है कि सूफी शब्द का सम्बन्ध यूनानी शब्द सोफोस (Sophoos) से है जिसका अर्थ ज्ञान है। अंग्रेजी के Philosophy शब्द में भी यही शब्द है। इस प्रकार सूफी का अर्थ होता है ज्ञानी। सूफी मत का चलन मुहम्मद साहब के प्रायः दो सौ बरस बाद हुआ। सूफी लोग पीर (गुरु) को अधिक महत्ता देते थे। वे ईश्वर और जीव का सम्बन्ध भय का नहीं वरन् प्रेम का मानते थे। उनका झुकाव सर्वेश्वरवाद की ओर था। वे संगीत के भी प्रेमी थे। इन सब बातों के कारण वे कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू-धर्म के अधिक निकट थे। कट्टर पंथियों ने मंसूर को 'अनलहक' (मैं सचाई या ईश्वर हूँ) कहने के कारण सूली का दण्ड दिलवाया था। भारत में सूफी सम्प्रदाय का आरम्भ सिंध से हुआ है।

विशेषताऐं—१—प्रेममार्गी कवियों की प्रेम-गाथाएँ भारतीय चरित्र-काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। इनमें ईश्वर-बन्दना, पैगम्बर की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा के साथ कथा का आरम्भ होता है।

२—इनकी भाषा अवधी है।

३—इनकी रचना दोहा चौपाइयों में हुई है। चौपाई छन्द अवधी के लिए विशेष उपयुक्त हैं।

४—ये कथाऐं प्रायः हिन्दू जीवन से सम्बन्ध रखती हैं और इनमें भौतिक प्रेम द्वारा ईश्वरीय प्रेम का प्रतिपादन किया गया है।

५—इनके लिखने वाले प्रायः मुसलमान थे जिनको हिन्दू धर्म का थोड़ा बहुत ज्ञान भी था।

६—ये लोग विशेष रूप से किसी सम्प्रदाय का खण्डन मण्डन नहीं करते।

प्रेममार्गी साहित्य—प्रेममार्गी परम्परा वैसे तो ऊषा-अनिरुद्ध की कथा से चली आती है किन्तु उसका प्रौढ़ रूप इन मुसलमान कवियों में ही दिखाई देता है। पद्मावत मे चार कथाओं का उल्लेख है, वह इस प्रकार है—

> विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
> मधूपाछ, मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
> राजकुंवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
> साधे कुंवर खण्डावति*जोगू। मधु मालति कहँ कीन्ह वियोगू॥
> प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। ऊषा लाग अनिरुध वर बाँधा॥

उपर्युक्त चौपाइयों में जायसी से पूर्व के चार काव्य-ग्रन्थों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती, इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है। शेष दो ग्रन्थ अभी नहीं मिले हैं।

कुतबन—ये महाशय संवत् १५५० के लगभग शेरशाह के पिता हुसैनशाह के दरबार में रहते थे। ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनकी पुस्तक मृगावती, जिसका उल्लेख जायसी ने किया है, सन् ९०९ हिजरी अर्थात् संवत् १५५८ वि० में लिखी गई थी। इस पुस्तक में चन्द्र-नगर के राजा गनपति देव के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन है। मृगावती उड़ने की विद्या में निपुण थी—वह राजा को छोड़ कर कहीं उड़ गई थी। राजा उसके वियोग में योगी होगया और उसकी खोज में निकल पड़ा। इसी बीच में उसने एक विवाह किया। अन्त में उसका मृगावती से मिलन होगया। वह दोनों रानियों को लेकर अपने

*बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने खण्डावति के स्थान में मनोहर पाठ किया है।

देश लौट आया। राजा के हाथी से गिर कर मर जाने पर दोनों रानियाँ सती हो गईं। कथा के बीच बीच में प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का अच्छा वर्णन है जो साधक के लिये बड़ी उपदेशप्रद है। इसमें रहस्य-भावना से भरे हुये भी कई स्थल है।

मंझन—मधुमालती इन्हीं का ग्रन्थ है। इसकी कथा मृगावती से अधिक रुचिकर है। इस ग्रन्थ में कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधु मालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है। पहले नायक अप्सराओं द्वारा मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचाया जाता है। वे एक दूसरे पर मोहित हो जाते हैं किन्तु वे अलग हो जाते हैं। इस प्रकार एक बार मिलन और बिरह होता है, अन्त में मिलन हो जाता है। इसमें प्रेमा और ताराचन्द का त्याग अत्यन्त सराहनीय है। इसमें विरह का अच्छा महत्व दिखाया गया है—

रतन कि सागर सागरहि, गज मोती गज कोइ।
चन्दन कि बन बन उपजै, विरह के तन तन होइ॥

इसमें निम्नलिखित संस्कृत श्लोक की छाया मालूम पड़ती है—

शैले शैले न माणिक्यं, चंदनं न बने बने।
साधवो नहि सर्वत्र, मौक्तिकं न गजे गजे॥

इस ग्रन्थ में विरह-कथा के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण हुआ है।

मलिक मुहम्मद जायसी—ये महाकवि प्रेमीमार्गी कवियों के प्रतिनिधि माने गये हैं। इनका जन्म गाजीपुर में होना बतलाया जाता है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पद्मावत' का रचना काल ९४७ हिजरी (संवत् १५५७ वि०) 'सन् नौ सौ सैंतालीस* अहा' कथा आरम्भ बैन कवि कहा।' ये चेचक के

*आचार्य शुक्लजी के इतिहास में नौ सौ सत्ताईस पाठ है, इस पाठ भेद का कारण यह है कि मूल पद्मावत फारसी अक्षरों में लिखा गया था और

प्रकोप के कारण एक आँख से वंचित हो गये थे। इसी कारण अपनी पुस्तक में एक आँख का होना गौरव की बात बतलाई है तथा शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है। पीछे से ये 'जायस' (रायबरेली) में रहने लगे थे। इसी से वे जायसी कहलाये। प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी (मुहीउद्दीन) के ये शिष्य थे। (गुरु मोंहदी खेवक में सेवा) यद्यपि इनको मुसलमानी धर्म से पूरी आस्था थी, तथापि इन्होंने हिन्दू देवताओं का आदर के साथ उल्लेख किया है। केवल एक जगह रतनसेन के मुख से मूर्ति पूजा की अवश्य बुराई कराई है। किन्तु नैराश्य में प्रायः ऐसा हो जाता है कि लोग देवताओं को कोसते हैं।

इनकी तीन पुस्तकें प्रख्यात हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम। पद्मावत में राजा रतनसैन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इन दोनों का योग हीरामन तोता ने कराया है। इस कथा में दोनों ओर से प्रेम की पीर दिखलाई गई है। राजा की पहली रानी नागमती के वियोग का भी अच्छा वर्णन है। इस कथा से प्रेम-साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखलाया गया है। यह कथा अधिकांश में ऐतिहासिक है। कवि-कल्पना के अनुसार इसमें हेर-फेर अवश्य किया गया है। पूर्वार्ध कल्पित है किन्तु उत्तरार्ध का बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार है। भौतिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम की भी झलक मिलती है। जायसी ने स्वयं इस कथा को आध्यात्मिक रूप दिया है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सूआ जेइ पन्थ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥

उनमें सैंतालीस का सत्ताईस भी पढ़ा जा सकता है। इस सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का कहना है कि १६२७ में दिल्ली के तख्त पर अलाउद्दीन सुलतान नहीं थे जिनकी वन्दना पद्मावत में की गई है।

नागमती यह दुनियाँ-धन्धा।
बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउद्दीन सुलतानू॥

जायसी का यह ग्रन्थ प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से बहुत अच्छा गिना जाता है, किन्तु रामचरित मानस के प्रबन्ध-सौष्ठव की बराबरी नहीं कर सकता। प्रेम-गाथाओं में इसका स्थान पहला है और प्रबन्ध-काव्य में दूसरा।

जायसी का विरह वर्णन बड़ा विशद है। इन्होंने विरहग्रस्त प्रेमी और प्रेमिका के साथ सारे संसार की सहानुभूति दिखलाई है और सब चराचर पशु-पक्षी आदि को विरह-वेदना से व्याप्त बतलाया है। गेहूँ का हृदय भी विरह के कारण फटा हुआ है और कौआ विरह के कारण काला है। कहीं-कहीं इनका विरह-वर्णन अत्युक्ति की मात्रा को पहुँच गया है। किन्तु बिहारी के विरह वर्णन से कुछ भिन्न है। इसमें इनकी अत्युक्तियाँ विरह की विषम वेदना के संकेत रूप प्रतीत होती हैं, उनमें शब्दों का चमत्कार नहीं। जायसी की अधिकांश अत्युक्तियाँ उत्प्रेक्षा-सूचक 'जनु' 'मानो' आदि अव्ययों के कारण वास्तविक जगत् की न रह कर कल्पना की बात रह जाती हैं। जहाँ पर जायसी ने अत्युक्ति को घटना का रूप दिया है (जैसे कि पक्षी के नागमती की चिट्ठी ले जाते समय का वर्णन) वहीं वे बिहारी की भाँति हास्यास्पद बन गये हैं। इसमें मुसलमानी काव्य के विरह-वर्णन की वीभत्सता भी आ गई है। हर जगह रक्त के ही आँसू गिरते हैं। इनके विरह में अत्युक्ति अवश्य है किन्तु इसके साथ ही अनुभूति की तीव्रता भी दिखलाई देती है।

जायसी बहुश्रुत थे। उन्होंने ज्योतिष, हठयोग और शतरंज आदि का अच्छा ज्ञान दिखलाया है। यद्यपि जायसी ने हिन्दू कथाओं के वर्णन में भूल की है (इन्द्र का निवास कैलाश पर बतलाया है और चन्द्रमा को स्त्री कहा है) तथापि उनको हिन्दू धर्म का ज्ञान बहुत अच्छा था।

जायसी ने अपने ग्रन्थ ठेठ अवधी भाषा में लिखे हैं। इनमें अलङ्कार-

योजना बड़ी सुन्दर है। इनके अलङ्कार, अलङ्कारों के उदाहरणस्वरूप नहीं लिखे गये हैं, वरन् भावों के साथ गुथे हुए हैं। पद्मावत के कारण जायसी की कीर्ति हिन्दी संसार में अक्षय बनी रहेगी। इनकी कविता के उदाहरण-स्वरूप कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

नव पौरी पर दसवँ दुवारा। तेहि पर बाज राज-घरियारा॥
घरी सो बैठि गनैं घरियारी। पहर-पहर सो आपनि बारी॥
जबहिं घरी पूजै ओहि मारा। घरी-घरी घरियार पुकारा॥
परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा। का निचिंत माटी कर भाँड़ा॥
तुम तेहि चाक चढ़े ओही काँचे। आएहु रहै न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ। का निचिंत भा सोवै बटाऊ॥
पहरहिं पहर गजर नित होई। हिया वज्र मा जागु न कोई॥
दोहा—मुहमद जीवन जल भरन, रहँट-घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥

उसमान—संवत् १६१३ में इनकी चित्रावली लिखी गई थी। इसमें नैपाल के राजकुमार धरनीधर के चित्रावली के साथ विवाह का हाल है। इसमें राजा का पूर्वानुराग चित्र-दर्शन से हुआ था। इसमें यात्राओं का अच्छा वर्णन है। यह कथा बिलकुल काल्पनिक मालूम होती है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में थे। इन्होंने हाजी बाबा से दीक्षा ली थी। इन्होंने अपना उपनाम 'मान' लिखा है। ये जहाँगीर के समय में थे और गाजीपुर के रहने वाले थे। इस नगर का वर्णन इन्होंने अपनी पुस्तक में भी किया है।

इन कवियों के अतिरिक्त शेख नबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवियों का नाम इस परम्परा में लिया जाता है। कुछ हिन्दू कवियों ने (जैसे दामों, हरिराज, मोहनदास आदि) भी प्रेम-मार्गी परम्परा को अपनाया है।

उपसंहार—प्रेममार्गी कवियों ने मानव-हृदय को स्पर्श करने वाली

प्रेम की मधुर और कोमल वृत्ति का सहारा लिया है। ये लोग कबीर की भाँति हिन्दू-मुसलमानों के खण्डन-मण्डन के पचड़े में नहीं पड़े और न इन्होंने किसी को बुरा-भला कहा। इसलिए उनके काव्य में लोक-प्रिय होने की सम्भावना अवश्य थी किन्तु वह सम्भावना सगुण भक्ति की मधुर धारा के प्रभाव के आगे वास्तविकता में परिणत न हो सकी। प्रेम-गाथाओं के आलम्बन इतने लोक-प्रिय न थे जितने राम और कृष्ण। मानव-हृदय लौकिक प्रेम की ओर अवश्य आकर्षित होता है किन्तु भक्ति-भावना में धर्म और प्रेम दोनों मिले हुए हैं। राम और कृष्ण की लीलाओं में हिन्दू जाति को जो आदर्श था वह प्रेम-गाथाओं में न आ सका। राम और कृष्ण की कथाओं में दु:खों से त्राण पाने की भी कुछ आशा मिलती थी, इसलिए भक्ति-काव्य ने लोगों के हृदय में अपना गहरा स्थान बना लिया।

प्रेममार्गी कवियों ने अवधी भाषा का विशेष रूप से प्रयोग किया है। इनकी भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी थी। तुलसीदास की-सी संस्कृतमय भाषा न थी। इसमें अरबी, फारसी के शब्दों का भी समावेश हुआ—मुसलमान कवियों के लिए यह बात स्वाभाविक ही थी। दोहा-चौपाई की परम्परा को इन्होंने प्रशस्त किया; इसलिए हिन्दी संसार इनका कृतज्ञ है।

रामभक्ति-शाखा

भक्ति मार्ग—भारतवर्ष में ईश्वर-प्राप्ति व सद्गति के ज्ञान, भक्ति और कर्म के नाम से तीन मार्ग माने गये हैं। ये तीनों मार्ग आदि काल से चले आये हैं किन्तु कभी किसी की प्रधानता रही है और कभी किसी की। भक्ति-मार्ग मानव-प्रकृति के अनुकूल होने के कारण लोक-प्रिय रहा है। वेदों में पहले सूर्य और पीछे विष्णु की उपासना की प्रधानता रही है। श्रीमद्भगवद्गीता में विष्णु को सूर्य का एक रूप माना गया है—'आदित्यानामहं विष्णु' प्राचीन काल में यह 'भागवत धर्म' के नाम से प्रख्यात था। इसी को महाभारत में पांचरात्र धर्म और 'शाश्वत धर्म' भी कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति और शरणागति-भाव प्राचुर्य के साथ पाये जाते हैं। देवर्षि नारद भागवद्धर्म के मुख्य आचार्य माने

गये हैं। उन्होंने अपने भक्ति सूत्रों में भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा प्रधानता दी है।

वैदिक कर्मकाण्ड के हिंसावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बौद्ध धर्म की कठिन लोह-शृङ्खला लोगों को बन्धन स्वरूप प्रतीत होने लगी और मानव हृदय की आवश्यकताओं ने महायान शाखा में भक्ति मार्ग का प्रवेश करा दिया। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का सिक्का जमा। किन्तु उसी के साथ-साथ कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद का बोलवाला हो गया, फिर भी सुधार की आवश्यकता हुई। मलावार देश में श्री शङ्कराचार्य का जन्म सं० ८४५ में हुआ। शङ्कराचार्य ने बौद्धों तथा मण्डन मिश्र आदि कर्मकाण्डियों से शास्त्रार्थ कर अपने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाले मायावाद का प्रतिपादन किया। विद्वन्मण्डली में उसका बड़ा आदर हुआ और भारतवर्ष के धार्मिक विचारों पर उसकी गहरी छाप पड़ी, यहाँ तक कि परम शृङ्गारी कवि बिहारी भी उसके प्रभाव से मुक्त न रह सके। देखिए:—

मैं समुझ्यो निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ॥

शंकर वेदांत ने बौद्ध धर्म की कमी को तो पूरा कर दिया किन्तु वह मानव हृदय को पूरा तोष न दे सका। दक्षिण भारत में भागवत् धर्म की परम्परा आलावार सन्तों की वाणी में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। आलावार सन्तों ने अपनी भक्ति-भावना की व्यंजना तामिल भाषा में की थी। उसके पश्चात् कुछ आचार्य भी हुए। उन्होंने अपने भावों का संस्कृत में प्रकाशन किया। इन आचार्यों में नाथमुनि तथा यामुनाचार्य मुख्य हैं। यामुनाचार्य का 'सिद्धित्रय' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उनकी रचनाओं में विशिष्टाद्वैत का पूर्व रूप दिखायी पड़ता है। श्री रामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७३) ने संसार की सत्यता स्थापित कर विशिष्टाद्वैत* सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने अपने गुरू की

*ये लोग अद्वैतता मानते हैं किन्तु अद्वैतता विशिष्ट अर्थात् विशेषण युक्त है। ये लोग जीव और जगत् को ब्रह्म के विशेषण मानते हैं और संसार को मिथ्या नहीं कहते।

अन्तिम अभिलाषा का पालन करते हुए ब्रह्मसूत्र पर 'श्री भाष्य' लिखा और जगत् की सत्यता और ईश्वर की सगुणता का पाण्डित्य-पूर्ण प्रतिपादन किया।

रामानुजाचार्य ने भक्ति पर अधिक जोर दिया। उनके पीछे के आचार्यों ने प्रपत्ति वा शरणागति के भाव को मुख्यता दी है। शरणागतिभाव में केवल शरण में आकर अपने को बिलकुल ईश्वर के आधीन कर देना पड़ता है। रामानुजाचार्य ने नारायण की उपासना बतलाई है।

यद्यपि श्री रामानुजाचार्य बहुत उदार प्रकृति के थे (शूद्रों का भी आदर करते थे) तथापि उनके सिद्धान्त जाति-पाँति के पोषक थे। उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म अधिक व्यापक होगया। श्री रामानुजी शिष्य-परम्परा की पाँचवीं पीढ़ी में श्री रामानन्द जी (जन्म-संवत् १३५६) ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। उन्होंने कबीर आदि मुसलमानों तथा रैदास आदि अछूतों को भी वैष्णव धर्म में आश्रय दिया। अनेक सन्त रामानन्द से प्रभावित हुए हैं। उनमें कबीर ऐसे निर्गुणवादी और तुलसी ऐसे सगुणवादी शामिल हैं। पीपा, सेना, रैदास, मलूक आदि सभी सन्त रामानन्द स्वामी के ऋणी हैं। रामानन्द ने लोगों को राम-मंत्र से दीक्षा दी, उनके सम्प्रदाय में राम ने नारायण का स्थान ले लिया। रामानन्दीय शिष्य-परम्परा में गोस्वामीजी सातवीं पीढ़ी में माने जाते हैं।

जिस प्रकार रामानन्दीय सम्प्रदाय में, जो रामावत सम्प्रदाय के नाम से भी प्रख्यात है, रामोपासना की प्रधानता रही, उसी प्रकार श्री मध्वाचार्य (सं० १२५४–१३३४) श्री वल्लभाचार्य (जन्म सं० १५३६) श्री चैतन्य महाप्रभु (सं० १५४२ के लगभग) तथा निम्बार्काचार्य के सम्प्रदायों में कृष्णोपासन की मुख्यता रही। श्री मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की (जो भक्ति-भावना के लिये आवश्यक था) स्थापना की। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी अधिकतर उन्हीं के सिद्धान्तों को माना और नाम संकीर्तन पर अधिक जोर दिया। उनकी भक्ति में प्रेमोन्मत्तता अधिक थी।

श्री वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की स्थापना की। उन्होंने गोपालकृष्ण की

वात्सल्य भाव से उपासना बतलाई। सूरदासजी (अष्टछाप के प्रमुख कवि) इसी सम्प्रदाय के थे। श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद का सिद्धान्त बतलाया। श्री हितहरिवंशजी ने श्री राधिकाजी की उपासना को प्राधान्य देकर श्री राधिकाबल्लभीय सम्प्रदाय की स्थापना की। महाराष्ट्र में समर्थ रामदास, तुकाराम, नामदेव, ज्ञानेश्वर आदि सन्तों और महात्माओं ने अपनी रचनाओं द्वारा महाराष्ट्री भाषा के साहित्य की श्री-वृद्धि की। इन लोगों की कुछ कवितायें हिन्दी भाषा में भी रची गई हैं। पंजाब में गुरु नानक ने सिक्ख सम्प्रदाय की स्थापना कर पञ्जाबी भाषा में भक्ति का स्रोत बहाया।

भक्तिकाल की विशेषताएँ:—१—भक्तकवि वैष्णव थे और विष्णु भगवान के सगुण और साकार रूप के, जो कि रामकृष्णादि अवतारों में व्यक्त हुआ था, उपासक थे। वे उसको ब्रह्म से ऊपर मानते थे। सन्त कवि निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। प्रेममार्गी कवियों का उपास्य सन्तों के ब्रह्म की अपेक्षा अधिक सगुण था किन्तु साकार नहीं था। मुसलमान और ईसाइयों का खुदा सगुण है किन्तु रामकृष्ण की भाँति साकार नहीं है।

२—अपने इष्टदेव का गुणगान करना वे एक धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। उसमें उनके हृदय का उल्लास और उसके कारण आत्मनिवेदन भी सम्मिलित रहता था।

३—वे लोग कविता को अभिव्यक्ति का साधन मात्र मानते थे, उसको कभी साध्य नहीं बनाया। वे कविता को कविता के लिए कभी नहीं करते थे। रीति-कालीन कवि कविता और कला को मुख्यता देते थे।

४—वे लोग राज्याश्रय की परवाह नहीं करते थे। जो लिखते थे या तो स्वान्तः सुखाय या लोक हिताय लिखते थे। इस बात में सन्त और कुछ कुछ सूफी कवि उनसे समानता रखते थे। रीति कालीन कवियों में यह बात न थी। वे लोग अपने आश्रयदाताओं के लिए कविता करते थे किन्तु ये लोग जनता के कवि थे।

५—ये लोग अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा भगवान की कृपा को अधिक महत्ता देते थे।

गोस्वामी तुलसीदास

जीवन-सामग्री के बहिरङ्ग साधन—

किसी कवि के जीवन-वृत्त जानने में हम दो प्रकार के साधनों से काम लिया करते हैं, एक आन्तरिक और दूसरे बाह्य। आन्तरिक साधन से तात्पर्य है—कवि के द्वारा स्वयं अपने ही ग्रन्थों में दिया गया अपना परिचय; 'बाह्य' साधनों में उसके समकालीन अथवा परवर्ती लेखकों द्वारा किया गया राजकीय पत्रों आदि में लिखा हुआ वृतान्त। गोस्वामीजी ने भक्त कवि होने के कारण अपने विषय में कुछ अधिक नहीं कहा। फिर भी उनकी पुस्तकों में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। गोस्वामीजी के जीवन पर प्रकाश डालने वाले पाँच बाहरी साधन हैं—

(१) नाभाजी की 'भक्तमाल' (२) भक्तमाल पर प्रियादासजी की टीका (३) बाबा वेणी माधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' (४) बाबा रघुवरदास कृत 'तुलसीचरित्र' तथा (५) रामचरितमानस की मानसमयङ्क नाम की एक प्राचीन टीका।

आन्तरिक साधन—

आन्तरिक साधनों में कवितावली तथा विनयपत्रिका में यत्र-तत्र आत्म-निवेदन के रूप में कहे गये स्थल कुछ काम के हैं, साथ ही कुछ बातों पर रामचरितमानस तथा दोहावली से भी प्रकाश पड़ता है, जिसका यथास्थल प्रयोग किया जायगा।

जन्म-संवत्—

डा० ग्रियर्सन ने पं० रामगुलामजी द्विवेदी की बात को प्रामाणिक मानते हुए गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५८९ वि० में माना है, परन्तु 'गोसाईं-चरित्र' के आधार पर उनका जन्म-संवत् १५५४ वि० है:—

पन्द्रहसै चौवन विषै कालिन्दी के तीर।
सावन सुक्ला सत्तमी, तुलसी धरयौ सरीर॥

वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित'

मानस-मयङ्क ने भी इसी की पुष्टि की है।

मृत्यु-संवत्—

उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में साधारणतया यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है:—

संवत् सोरह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
सावण सुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यौ सरीर॥

पर गोसाईं-चरित्र में इसके उत्तरार्द्ध का पाठ निम्न प्रकार है:—

'श्रावण श्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यौ सरीर'

यह मत इस बात से और भी पुष्ट होता है कि गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल के वंशज अब भी उक्त तिथि को गोस्वामीजी के नाम का सीधा देते हैं। श्रावण शुक्ला सप्तमी वास्तव में उनकी जन्म-तिथि है; जैसा गोसाईं चरित्र के ऊपर दिये गये एक दोहे से प्रकट है।

जन्म-स्थान, निवास-स्थान, पर्यटन आदि—

जन्म के विषय में भी अनेक मतभेद हैं। कोई यह सौभाग्य राजापुर और कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर को प्रदान करते हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने यह स्थान शूकर-क्षेत्र अर्थात् सोरों बतलाया है। पर बहुमत बाँदा जिले में कालिन्दी कूल पर स्थित राजापुर को आपकी जन्मभूमि मानने के पक्ष में है (एक शूकर-क्षेत्र गोंडा जिले में भी है)। इस मतका समर्थन 'तुलसी-चरित' शिवसिंह सरोज तथा रामगुलामजी द्विवेदी ने किया है। यहीं गोस्वामीजी के हाथ की लिखी 'रामचरित मानस' की प्रति विद्यमान कही जाती है। अब कुछ लोगों का यह मत होता जाता है कि तुलसीदासजी का जन्म सोरों में हुआ और पीछे से राजापुर में जा बसे थे।

गोस्वामीजी ने साधु-वृत्ति स्वीकार कर लेने के पश्चात् पर्यटन भी बहुत किया। आप अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदि तीर्थ स्थानों में गये। कहा जाता है कि आप अपने भाई नन्ददास से मिलने व्रजभूमि में भी गये थे। वहाँ पर सूरदासजी से इनकी भेंट हुई थी। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि पहले सूरदासजी चित्रकूट में तुलसीदासजी से मिले थे। जनश्रुति के अनुकूल

तुलसीदासजी ने वृन्दावन के एक मन्दिर में श्रीकृष्णजी की मूर्ति के सम्मुख यह दोहा पढ़ा था—

'का बरनऊँ छवि आजु की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बान लेउ हाथ ॥'

यह सुनकर श्रीकृष्णजी ने वैसा ही किया। यह दोहा तुलसी के अनन्य भाव का परिचायक है, पर कुछ लोग इसे पीछे से जोड़ा हुआ कहते हैं और इस घटना को कपोल-कल्पित मानते हैं। उन लोगों का कथन है कि जो कवि कृष्ण-गीतावली लिख सकता है और राम तथा शङ्कर में अभेद स्थापित करता है वह अपने मुख से किस प्रकार इस बात को कहेगा।

गोस्वामीजी काशी में अधिक रहे। वहाँ गोपाल मन्दिर, संकट-मोचन महावीर, प्रहलादघाट, अस्सीघाट आदि आपसे सम्बन्धित अनेक स्थान प्रसिद्ध हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि मीराँबाई ने तुलसीदासजी को अपनी संकट-पूर्ण दशा लिखकर भेजी थी और तुलसीदासजी ने उनको नीचे लिखे पद में उत्तर दिया था:—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

* * * *

यदि आपका जन्म संवत् १५८९ माना जाय तो मीराँ और तुलसी के समय में बहुत अन्तर बैठता है क्योंकि मीराँ की मृत्यु सं० १६०३ में हुई थी और यह घटना कल्पित ठहरती है। किन्तु जब तक इसके विरुद्ध कोई अकाट्य प्रमाण न मिले तब तक ऐसी परम्परागत जनश्रुति को एक दम झूठा कहना उचित नहीं है। तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५५४ मानने में यह कठिनाई नहीं रहती।

माता-पिता—जनश्रुति के अनुसार आपके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम हुलसी है। गुसाईं चरित में कहा है—'हुलसी सुत तीरथ राज गए।'

रहीम का यह दोहा तो प्रसिद्ध ही है:—

सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहहिं सब कोय।
गोद (गर्भ) लिए हुलसी फिरें, तुलसी सो सुत होय॥

बाबा रघुवरदास के 'तुलसी चरित' के अनुसार इनके पिता का नाम मुरारि मिश्र, कुल गुरु का नाम तुलसीराम तथा इनका (तुलसी का) नाम तुलाराम ठहरता है।

नाम और जाति—

जैसा ऊपर कहा गया है 'तुलसी चरित' में आपका नाम तुलाराम बताया गया है। विनय पत्रिका में 'राम को गुलाम रामबोला नाम रख्यो' कहा गया है। इसके अनुसार उनका नाम 'रामबोला' प्रमाणित होता है। सम्भव है बाल्यावस्था से साधु-संसर्ग में रहने के कारण साधु लोग इन्हे राम-बोला नाम से पुकारते हों। साधु लोग अपने चेलों को ऐसे ही नामों से सम्बोधित करते हैं। यद्यपि अपने सम्बन्ध में वे जाति-पाँति का गर्व नहीं रखते थे जैसा कि निम्नोल्लिखित पद्यांशों से स्पष्ट है:—

'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जुलहा कहौ, कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥',

* * * *

'मेरे न जाति पाँति, न चाहौं काहू की जाति पाँति।
मेरे कोऊ न काम को, न हौं काहू के काम को॥'

फिर भी कवितावली में—'जायो कुलमंगन'.............' तथा 'दियौ सुकुल जनम सरीर' आदि छन्दों से स्पष्ट है कि आपका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था।

विवाहित जीवन और परिवर्तन—

संवत् १५८३ में गोस्वामीजी ने विवाह किया। इनकी स्त्री का नाम रत्नावली* प्रसिद्ध है। 'तुलसी-चरित' के अनुसार इनके तीन विवाह हुए। तीसरी स्त्री का नाम बुद्धिमती था। कहा जाता है कि उनसे तारक नाम का

* कहा जाता है कि रत्नावली जी कविता करती थीं। उनकी लिखी हुई

एक पुत्र भी हुआ था, जो मर गया था। गोस्वामी अपनी पत्नी में बहुत अनुरक्त थे, अतः उसे पीहर न भेजते थे। एक बार वह बिना कहे ही उनकी अनुपस्थिति में अपने भाई के साथ पीहर चली गयी। जब उन्हें ज्ञात हुआ तो ये भी चल दिये और बहुत सी कठिनाइयों को पार करते हुए वहाँ आधी रात के समय पहुँचे। जैसे ही ये अपनी पत्नी से मिले वह बहुत लज्जित हुई और उसने कहा—

"लाज न आवत आपको, दौरे आएहु साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ हौं नाथ॥
अस्थि चरम मम देह मम तामें एती प्रीति।
होतौ जो श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति॥"

यह सुनकर वे तुरन्त लौट पड़े और विरक्त हो गये। आपने १५६० में वैराग्य लिया और १६ वर्ष तक देशाटन और तीर्थ-यात्रा करते रहे, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। १६१६ में सूरदासजी इनसे चित्रकूट में मिले। मीरा के इनसे मिलने की बात भी यहीं की कही जाती है। पर्यटन करते हुए एक बार आपकी भेंट अपनी पत्नी से फिर हुई थी। गोस्वामीजी तो उसे पहचान न सके पर स्त्री अपने पति को कब भूल सकती थी। उसने गोस्वामीजी से पूजा के लिए सामान लाने को पूछा। परन्तु तुलसीदासजी ने कहा कि हमारी झोली में सब सामान है। तब स्त्री ने कहा—

खरिया, खरी, कपूर सब, उचित न, पिय! तियत्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि, कै विमल विवेक विराग॥

यह सुनना था कि तुलसीदासजी ने झोले की सब वस्तुएँ गरीबों को बाँट दीं।

गोस्वामीजी के ग्रन्थ—

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय

एक किताब की भी चर्चा होने लगी है। उसमें अधिकतर उनका पश्चाताप है। यह पुस्तक अब प्रकाशित हो गई है।

नीचे दिया जाता है। इस सूची के ग्रन्थों का क्रम नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली के अनुकूल है। जिन संवतो पर * ऐसा चिन्ह है वे मूल 'गुसाईं चरित' के अनुकूल हैं।

१—रामचरित-मानस (सं० १६३१) 'रामायण' नाम से तुलसीदासजी का यह ग्रन्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

२—रामलला नहछू—(सं० १६४३*) २० सोहर छन्दों का छोटा-सा ग्रन्थ है। पूर्वीय प्रान्त में बारात के पूर्व, चौक बैठने के समय नाइन द्वारा नख (नह) छूने या महावर देने की प्रथा प्रचलित है। यह कृत्य यज्ञोपवीत के पूर्व भी होता है। इस छोटी पुस्तक में उसी लीला का वर्णन किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने इसके गोस्वामीकृत होने में संदेह किया है। इसमें अयोध्याजी का तथा कौशल्याजी का उल्लेख होने के कारण अधिकांश लोग इसको यज्ञोपवीत के समय का मानते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने इसका रचना-काल संवत् १६३६ माना है। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसकी अधिक श्रृंगारिकता के कारण इसकी रचना मानस की रचना से २० वर्ष पूर्व अर्थात् १६११ की मानी है।

३—वैराग्य-संदीपनी—(सं० १६६९*) यह ६२ छन्दों का छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें सन्त-महन्तों के लक्षण दिये गये हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसे बहुत पहले का (सं० १६२५) माना है। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी इसको विनय-पत्रिका के साथ का रचा हुआ मानते हैं (अर्थात् १६३६ और १६३९ के बीच में)।

४—बरवै रामायण—(सं० १६६९*) इसमें बरवै छन्द में रामचरित लिखा गया है। सात काण्ड और ६९ छन्द हैं। इसके भी तुलसीकृत होने में सन्देह किया जाता है। किन्तु इसमें राम के प्रति ईश्वर भावना होने के कारण यह सन्देह कम हो जाता है। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसकी रचना तिथि १६६२ और १६६४ के बीच में मानी है। आलङ्कारिकता के आधिक्य के कारण यह ग्रन्थ पहले का मालूम पड़ता है किन्तु रहीम के अनुकरण में होने के कारण पीछे का ठहरता है।

५—पार्वती-मंगल—(सं० १६४३) इसमें शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। छंद संख्या १६४ है। मिश्रबन्धुओं ने इसके तुलसीकृत होने में सन्देह किया है। इसमें जय संवत् का उल्लेख है। जय संवत् १६४३ में पड़ा था। बाबा वेणीमाधवदास ने इसकी रचना काल १६६९ माना है। यह ठीक नहीं जान पड़ता।

६—जानकी-मंगल—(सं० १६४३) इसमें सीताजी की कथा कही गई है। इसमें २१६ छन्द हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसको सं० १६२१ की रचना मानी है। पार्वती-मंगल का समय १६४३ निश्चित है। गुसाईं चरित्र में नहछू और दोनों मंगलों का एक साथ निर्माण लिखा है। इसी से तीनों का एक समय माना है। इसकी कथा वाल्मीकीय रामायण से प्रभावित है। वाल्मीकीय रामायण की भाँति इसमें परशुराम की भेंट बारात लौटते समय हुई है।

७—रामाज्ञा—(१६६९*) यह ग्रन्थ शकुन विचारने के लिए बनाया गया है। उनचास-उनचास दोहों के सात सर्ग हैं। विषय रामायण। यह ग्रन्थ पं० गंगाराम ज्योतिषी के लाभार्थ लिखा गया बतलाया जाता है। एक हस्तलिखित पुस्तक के आधार पर इसकी रचना का समय सं० १६५५ बतलाया जाता है। डा० माताप्रसाद गुप्त इसका रचनाकाल सं० १६२३ के लगभग मानते हैं।

८—दोहावली—(सं० १६४०*) इसमें ५७३ स्फुट दोहे हैं। अधिकतर दोहे उपदेश तथा भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इनमें से कुछ दोहे ऐसे हैं जो रामचरित मानस तथा रामाज्ञा में भी आये हैं। इससे सम्भव है कि यह संग्रह ग्रन्थ हो। इसमें बाहु पीड़ा से सम्बन्ध रखने वाले भी कुछ दोहे हैं। इस आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसे उत्तर कालीन रचना माना है।

९—कवित्त रामायण—इसका दूसरा नाम 'कवितावली' है। इसमें कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षट्पदी छन्द हैं। कुल छन्द संख्या ३१५ है। कुछ लोग इसमें हनुमान बाहुक भी शामिल कर देते हैं। उसकी छन्द संख्या ४४६

है। इसका विषय राम-चरित्र है। कवितावली में गोस्वामीजी के अन्तिम काल सम्बन्धी कुछ रचनाएँ हैं। उसमें मीन की शनिश्चरी और रुद्रबीसी तथा महामारी का उल्लेख आया है। रुद्रबीसी का समय १६६५ से १६८५ तक माना गया है, मीन की शनिश्चरी रुद्रबीसी के साथ सं० १६६६ से ७१ तक रही। इस कारण इसका रचना-काल सं० १६६५ से ७१ तक ठहरता है। इसके कुछ छन्द मृत्यु के समय तक बने होंगे। यह उत्तरकालीन रचनाओं में से हैं। 'गुसाईं चरित' में इसका कोई संवत् नहीं दिया है। उसमें केवल यही संकेत है कि संवत् १६२२ में सीतावट के नीचे कुछ कवित्तों की रचना की। सम्भाव है तब से रचना प्रारम्भ हुई हो।

१०—गीतावली—(१६१६-१६१२*) इस पुस्तक में राग-रागनियों का समावेश है। कथा-प्रसंग कुछ भेद के साथ रामायण से मिलता-जुलता है। इसमें सात काण्ड और ३३० छन्द हैं। गीत काव्य होने के कारण इसमें उन्हीं स्थलों का वर्णन है जिनका सम्बन्ध शृङ्गार, करुणा और वात्सल्य की कोमल भावनाओं से है। इसका संवत् 'गुसाईं चरित' में १६२१ बतलाया गया है। किन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता है। संभवतः सं० १६४४ से ४६ तक यह लिखी गई होगी। इसमें (विशेष कर बालकाण्ड और उत्तर काण्ड में) कृष्ण काव्य का प्रभाव है।

११—कृष्ण गीतावली—(सं० १६२१—१६२८*) इस ग्रन्थ में कृष्ण-कथा का वर्णन है। कुल मिलाकर ६१ पद हैं। यह भी पीछे का ग्रन्थ मालूम पड़ता है अर्थात् सं० १६४४ के बाद का लिखा है।

१२—विनय-पत्रिका—इसमें राग-रागनियों द्वारा देवी देवताओं के विनय सम्बन्धी पद लिखे हैं। इसमें कलिकाल के विरुद्ध श्री रामचन्द्रजी के दरबार में, अर्जी पेश की गई है और दरबारी शिष्टाचार का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इसकी रचना बड़ी उत्कृष्ट समझी जाती है। इसमें तीन सौ के लगभग पद हैं। इसकी ब्रजभाषा बड़ी पाण्डित्यपूर्ण, और संस्कृत गर्भित है। यह ग्रन्थ १६६८ तक खतम हुआ होगा।

१३—वेणी माधवदास ने रामसतसई का भी उल्लेख किया है। इसको

वे सं० १६४२ का बतलाते हैं किंतु यह दूसरों का किया हुआ संग्रह मालूम पड़ता है।

भक्ति भाव तथा दार्शनिक मत

कुछ लोग गोस्वामीजी को स्मार्त वैष्णव* बतलाते हैं और कुछ लोग रामानन्दी सम्प्रदाय का मानते हैं। जो कुछ भी हो, वे मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे और सारे संसार को 'सिया-राममय' देखते थे। तुलसीदासजी ने भक्ति और प्रेम-पिपासा में चातक को आदर्श माना है। वे मर्यादा के अनुकूल अन्य देवताओं से प्रार्थना करते, किन्तु उनसे राम भक्ति की याचना कर अपनी अनन्यता की रक्षा करते थे। उनकी भक्ति सेव्य-सेवक भाव की थी। वे सेव्य-सेवक भाव बिना भक्ति नहीं मानते—

'सेव्य-सेवक भाव बिनु भव न तरिए उरगारि'

वे सूरदास जी की भाँति अक्खड़ भक्त न थे। दार्शनिक विचारों में वे मायावाद से प्रभावित अवश्य हुए थे और उनकी बहुत सी चौपाइयों में मायावाद का सिद्धान्त झलकता है—

'गो गोचर जहँ लग मन जाई। तहँ लगि माया जानेउ भाई॥'

और 'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' आदि वाक्यों में संसार को भ्रम स्वरूप भी कहा है तथापि वे अपने सम्प्रदाय (रामानन्दीय) के सिद्धान्तों से नहीं हटे। भक्ति-भावना के साथ द्वैतभावना कीही संगति हो सकती है। इसलिए उन्होंने ईश्वर और जीव को अलग ही माना है*देखिए—

---

*रामायण का आरम्भ सं० १६३१ में नवमी मंगलवार को हुआ। स्मार्त लोगों के मत से उस साल नवमी मङ्गलवार को बैठती है।

*यह विषय अधिक विवादास्पद है। महामहोपाध्याय पंडित गिरधर शर्मा पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र, पंडित श्रीधर पन्त आदि विद्वान् उनको अद्वैतवादी बतलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री रामकुमार वर्मा, श्री वियोगी हरि उनको विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं।...सितम्बर १६३६ के 'साहित्य-संदेश' में लेखक द्वारा की हुई 'तुलसी दर्शन' की आलोचना से इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सकता है। अथवा लेखक के 'हिन्दी काव्य विमर्श' में गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार पढ़िए।

माया बस्य जीव अभिमानी । ईस बस्य माया गुन-खानी ॥
परवस जीव स्ववस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

ईश्वर प्राप्ति के मार्गों में उन्होंने ज्ञान और भक्ति का अभेद बतलाया है—
ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

ऐसा लिखते हुए भी उन्होंने भक्ति को प्रधानता दी है। भक्ति को प्रधानता देने का एक काव्यमय कारण भी दिया है, वह यह कि भक्ति माया से मोहित नहीं हो सकती—

मोहि न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥

ज्ञान में प्रत्यूह भी अधिक है। इसलिए ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति ही सुलभ है। ज्ञान को दीपक माना है जो संसार की हवा से बुझ सकता है और भक्ति को चिन्तामणि माना है, जिस पर हवा का असर नहीं होता। भक्ति-साधन ही नहीं साध्य भी है। इसी भक्ति-भावना के कारण उन्होंने सगुणोपासना को प्रधानता दी और ब्रह्म के सगुण अवतार राम के वर्णन में सफल हो सके।

प्रतिनिधि कवि

गोस्वामीजी ने अपने समय की जनता के हृदय से हृदय मिलाकर उसके आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की है। ऐसा कोई रस नहीं जिसका उनके काव्य में परिपाक न हुआ हो, ऐसा कोई भाव नहीं जिसकी व्यंजना न हुई हो। साथ ही उन्होंने उस समय के प्रचलित काव्य-विषय राम और कृष्ण दोनों पर ही लिखा और अधिकार पूर्वक लिखा। उन्होंने उस समय की तीनों काव्य भाषाओं (पूर्वी अवधी—बरवैरामायण, रामलला नहछू। पश्चिमी अवधी—रामचरित मानस। ब्रजभाषा—गीतावली, कवितावली, विनय पत्रिका*) में पूर्ण सफलता पूर्वक रचनाएँ की। उन्होंने बुन्देलखण्डी को भी बहुत कुछ अपनाया, जैसा कि 'कीबी' आदि क्रियाओं से स्पष्ट है।

तुलसी ने छन्द-रचना की सभी प्रणालियों को अपनाया जैसे कि (क)

*विनय पत्रिका की ब्रजभाषा अधिक संस्कृत गर्भित है। राज दरबार की अर्जी की भाषा गौरवान्वित और पाण्डित्यपूर्ण होनी चाहिए थी।

वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति जिसको गोस्वामी जी ने रामचरित मानस के युद्ध वर्णन में अपनाया है। (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति जिसका परिचय हमें रामगीतावली और कृष्ण-गीतावली में मिलता है। (ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति। इस पद्धति में कवितावली लिखी गई है। जिसमें भगवान् की राज्य-श्री के साथ यश-वर्णन है। (घ) कबीरदास की नीति-सम्बन्धी बानी की दोहा-पद्धति जो अपभ्रंशकाल से चली आती थी। इस पद्धति का प्रयोग गोस्वामीजी ने अपनी दोहावली में किया है। (ङ) और जायसी के दोहे, चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति जिसको कि गोस्वामीजी ने रामचरित मानस में अलंकृत किया है। यहीं तक नहीं, वे प्रबन्ध-काव्य, स्फुट-काव्य, गीत-काव्य किसी को बिना अपनाये न रहे। इन शैलियों का रामचरित के वर्णन में प्रयोग कर उनका अत्यन्त परिमार्जित और निखरा हुआ रूप वे उपस्थित कर सके थे। अतः भाषा, भाव, शैली एवं छन्द रचना के विषय में विचार करने पर हम निस्संकोच भाव से कह सकते हैं कि तुलसीदास अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। सूरदास केवल व्रजभाषा को ही अपना सके और केवल गीत-पद्धति पर रचना कर सके। वे प्रेम और वात्सल्य को छोड़ अन्य किसी भाव को सफलता पूर्वक व्यक्त भी न कर सके, परन्तु तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी रही, और उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रकाशित किया। तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थों में तत्कालीन समाज का अच्छा चित्रण किया और उस समय की धार्मिक जनता के भावों को भली प्रकार व्यक्त किया है।

राम-काव्य और तुलसी का महत्व—

तुलसीदास के काव्य ने भक्ति के साथ शील, आचार, मर्यादा और लोक संग्रह का संदेश सुना कर हिन्दू-जाति में एक अपूर्व दृढ़ता उत्पन्न कर दी। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का पक्ष लेकर हिन्दू-समाज के लिए एक अभेद्य दुर्ग बना दिया और हिन्दुओं में मुसलमान-धर्म के प्रचार को रोका। गोस्वामीजी ने हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्तों को भाषा में अवतीर्ण कर उनका समाज में प्रचार किया और शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के परस्पर मत-भेद को दूर कर उनको और भी संगठित कर दिया। संस्कृत के दुरूह होने के कारण

उसके द्वारा हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों को इतना व्यापक बनाना कठिन था, इसलिए, उन्होंने संस्कृत में लिखने और उसके द्वारा पण्डित-समाज में ख्याति प्राप्त करने का मोह संवरण कर हिन्दी-भाषा को अपनाया। वे उत्तम भाव चाहते थे। भाषा के पीछे नहीं पड़े थे। वे इस सम्बन्ध में बड़े उदार और प्रगतिशील थे। उनका सिद्धान्त था—



का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिये साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥

कुछ विशेषताएँ

मिश्रबन्धुओं के अनुसार गोस्वामीजी की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं:—

(१) गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकबारगी नहीं कह देते, बल्कि आने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की पहले से सूचना दे देते हैं।

(२) वे अपने को तुरन्त मुख्य कथा पर पहुँचा देते हैं, रोचकता रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं करते। इसीसे इनको प्रबन्ध काव्य लिखने में सफलता हुई।

(३) अमुक-उवाच कहाए बिना ही आप बात कह देते हैं परन्तु यह विदित हो जाता है कि किसने बात कही।

(४) गोस्वामीजी निन्द्य मनुष्यों पर कथा-वर्णन में सदैव बड़ा क्रोध प्रकट करते हैं।

(५) गोस्वामीजी ने रामायण की कथा में अपनी ओर से कुछ घटाया बढ़ाया भी है। इस कारण वाल्मीकीय रामायण से कई बातों में अन्तर पड़ जाता है। जैसे—

(क) इन्होंने स्वयंवर के समय सीता को छोटी कन्या की भांति नहीं दिखलाया।

(ख) रामचन्द्रजी से धनुष सभा में तुड़वाया है एकान्त में नहीं।

(ग) राजा जनक से स्वयंवर में धनुष तोड़े जाने का प्रण कराया।

(घ) परशुराम को सभा में बुलाया है, वाल्मीकीय रामायण में सीता के अयोध्या जाते समय उनकी राम से भेंट कराई है। गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि परशुराम का तेज भी श्री रामचन्द्रजी ने ग्रहण किया (इस सम्बन्ध में रामचन्द्रिका वाल्मीकीय रामायण से अधिक प्रभावित है। गोस्वामीजी ने क्षत्रिय-समाज के सामने ही क्षत्रियों को त्रास देने वाले परशुरामजी द्वारा रामचन्द्रजी का महत्व स्वीकार कराया है।)

(ङ) तुलसीदासजी ने मेघनाद द्वारा लक्ष्मण के शक्ति का लगना लिखा है। वाल्मीकीय रामायण में रावण के हाथ से शक्ति लगना लिखा है। रामचन्द्रिका में भी वाल्मीकीय के अनुकूल रावण द्वारा शक्ति लगवाई गई है।

(६) गोस्वामीजी ने नायक तथा उपनायकों का शील गुण आद्योपान्त एक रस निभाया है।

(७) गोस्वामीजी ने विप्रगण की महिमा का सदा गान किया है।

(८) गोस्वामीजी अन्य सब देवताओं का पूजन राम-भक्ति प्राप्त करने के लिये ही करते हैं।

(९) गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे और उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को साक्षात् परब्रह्म माना है।

(१०) गोस्वामीजी ने कौशिल्या, सुमित्रा, सीता, अनुसूया आदि को छोड़ कर स्त्रियों की हर जगह निन्दा की है।

(११) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिए उपनायकों की त्रुटियाँ खूब दिखला देते हैं।

(१२) गोस्वामीजी ने बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुन्दर रूपक लिखे हैं।

(१३) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी पसन्द न थी तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को उन्होंने स्थान दे दिया है।

(१४) इनके सैकड़ों पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गये हैं।

(१५) गोस्वामीजी ने कई भाषाओं में सफलतापूर्वक कविता की है।

(१६) अपने स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग किया है।

(१७) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नहीं देते।

राम भक्ति-शाखा के अन्य कवि

नाभादास (सं० १६५७)—यद्यपि रामभक्ति शाखा के प्रमुख और प्रधान कवि तुलसीदासजी हैं तथापि कुछ अन्य कवियों ने भी इस शाखा को अपनी वाणी से अलंकृत किया है। इन कवियों में नाभादासजी अधिक प्रसिद्ध हैं। नाभादासजी ने अपने गुरु अग्रदासजी की प्रेरणा से 'भक्तमाल' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें कि साम्प्रदायक भेद-भाव छोड़ कर सभी भक्तों का यश वर्णन किया है। भक्तों में इस ग्रन्थ का बड़ा मान है, इसका बङ्गला भाषा में भी अनुवाद हुआ है। इसके वर्णन सूत्र रूप से हैं। इनसे जीवन पर प्रकाश बहुत थोड़ा पड़ता है किन्तु इस पर जो प्रियादास की टीका है वह बड़ी विस्तृत है और उसके द्वारा भक्तमाल में जो कमी है उसकी पूर्ति हो जाती है। नाभादासजी तुलसीदासजी के समकालीन थे और इनसे तुलसीदासजी की भेंट होना भी बतलाया जाता है। इनका जन्म संवत् १६२७ बताया जाता है। इनके दो ग्रन्थ और बताये गये हैं। एक अवधी में लिखा है और दूसरा ब्रजभाषा में।

प्राणचन्द चौहान (सं० १६६७) और हृदयरामजी—(सं० १६८०) ने भी रामचरित नाटक के रूप में वर्णन किया है। ये काव्य कथोपकथन के रूप में होने के कारण नाटक कहे जाते हैं अन्यथा इनमें नाटकीय-तत्व बहुत कम हैं। प्राणचन्द्र ने 'रामायण महा नाटक' और हृदयराम ने संस्कृत हनुमन्नाटक की छाया स्वरूप हिन्दी का हनुमन्नाटक लिखा है।

श्री रामचन्द्रजी के सम्बन्ध से हनुमानजी की उपासना का भी महत्व हो गया था। हनुमानबाहुक, संकटमोचन, हनुमान चालीसा आदि स्तोत्र ग्रन्थ इसी प्रवृति के फल हैं।

रीवाँ दरबार में रामानन्दी सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव रहा। वहाँ के विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह नरेशों ने भी रामचरित्र सम्बन्धी सुन्दर काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं।

इन महानुभावों के अतिरिक्त अयोध्या के और कवियों ने भी राम संबंधी काव्य लिखा किन्तु उसका विशेष महत्व नहीं है। अयोध्या के कुछ कवियों ने राम का शृंगारी नायक के रूप में वर्णन किया है और यमुनातट की भाँति सरयूतट उनकी बिहारस्थली बना है। उन पर कृष्ण भक्ति का प्रभाव है। वास्तव में तुलसीदास की काव्य-ज्योत्स्ना के आगे अन्य तारागणों का प्रभाव मन्दीभूत हो जाता है। राम-भक्ति सम्बन्धी कविता करने वालों में महाकवि केशव का भी नाम आता है। किन्तु उनकी प्रवृत्ति रीति ग्रन्थ लिखने की ओर अधिक थी अतः उनका वर्णन रीति-काल के कवियों के साथ ही किया गया है। आधुनिक युग में जो राम-काव्य का विकास हुआ है उसका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

कृष्ण-भक्ति शाखा

कृष्ण-भक्ति और गीत काव्य—कृष्ण भक्ति शाखा का विकास प्रायःमुक्तक के रूप में ही हुआ है और अष्ट छाप के भक्त कवियों की संगीत लहरी में ही हमको उसका पूरा-पूरा आनन्द मिलता है। यद्यपि कुछ कवियों ने रामायण के अनुकरण में कृष्णायन और रामचन्द्रिका के रूप में कृष्णचन्द्रिका लिख कर कृष्ण चरित को प्रबन्ध काव्य के रूप में लाने का उद्योग किया है तथापि वे लोग इस कार्य में यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त कर सके। इसका यही कारण मालूम होता है कि यद्यपि कृष्ण भगवान के लोक-रंजक और लोक रक्षक दोनों ही रूप थे तथापि उनके लोक-रंजक रूप में लोगों की रुचि अधिक आकर्षित हुई। लोग जितने गोपीकृष्ण की ओर आकर्षित हुए उतने द्वारिकाधीश की ओर नहीं। भगवान कृष्ण में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का प्राधान्य है, इसका संगीतमय पदों में ही अच्छी प्रकार वर्णन हो सकता था। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के जीवन की-सी अनेक-रूपता में अष्टछाप

के कवियों का मन न रम सका। इसी कारण प्रबन्ध काव्य के लिए वे उचित सामग्री उपस्थित करने में असमर्थ रहे।

प्रभाव—कृष्ण काव्य में दो प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं (१) श्री वल्लभाचार्य (१५३५-१५८७) का बालकृष्ण की उपासना प्रधान भक्ति-पद्धति और (२) जयदेव, विद्यापति, चन्डीदास आदि भक्त कवियों की गीत-काव्य पद्धति। गीत-गोविन्द के रचयिता श्री जयदेवजी का 'गीत-गोविन्द' गीत-काव्य का बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है जो कि स्वर और ताल के साथ गाया जा सकता है। उन्होंने गीत-काव्य द्वारा स्त्री पुरुष की साधारण प्रेमलीलाओं में सहज आकर्षण रखने वाले मनुष्यों के चित्त को अपनी कोमल-कान्त पदावली द्वारा राधाकृष्ण की दिव्य लीलाओं की ओर आकर्षित करना चाहा। चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल के इन गेय पदों का वृन्दावन में भी प्रचार हुआ। जयदेव ने विलासकला-कौतूहल की शक्कर के सहारे हरि स्मरण की औषधि को सांसारिक लोगों के गले के नीचे उतारना चाहा था। उनका कथन इस प्रकार है।

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासुकुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

कृष्ण भक्त शृङ्गारी कवियों के उद्दाम शृङ्गार वर्णन की यही सफाई है। उन्होंने मनुष्यों की रागात्मिका वृत्तियों का आश्रय लेकर भगवान का स्मरण कराया है। भक्तों का हृदय तो वासना कर्दम से अछूता रहा होगा (कुछ लोग उनके अवचेतन में वासना चाहे मान लें) क्योंकि भक्तिभावना, वासना को दबाये रखती होगी किन्तु इतर मनुष्यों के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल में हरि-स्मरण तो नाम मात्र को रह गया किन्तु शक्कर की चाट पड़ गई। साधन ही साध्य बन गया।

वल्लभ सम्प्रदाय और अष्टछाप—सूरदासजी कृष्णभक्ति शाखा के प्रधान कवि हैं और ये महाप्रभू वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से सूरदासजी ने भगवान के सगुण रूप का गान किया—'ऐसो घिघियात काहे को है कछु भगवत लीला वर्णन कर।' महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वेदान्त सूत्रों

का 'अणु भाष्य' लिखकर शुद्धाद्वैत का प्रचार किया। उन्होंने उपासना में बाल-कृष्ण की उपासना पर जोर दिया था। भक्ति पक्ष में ये लोग पुष्टिमार्गी कहलाते हैं क्योंकि ये लोग भगवान के अनुग्रह द्वारा ही जिसको कि वे अपने पारिभाषिक भाषा में पुष्टि या पोषण कहते हैं, अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होना मानते हैं।

श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने पुष्टि मार्गी कवियों में से आठ प्रधान कवियों को चुन कर उनको अष्टछाप की संज्ञा दी है। अष्टछाप के आठ कवियों की नामावली इस प्रकार है:—

१–सूरदास, २–कुम्भनदास, ३–परमानन्द दास, ४–कृष्णदास ५–छीतस्वामी, ६–गोविन्दस्वामी, ७–चतुर्भुजदास, ८–नन्ददास।

इनमें से चार आचार्य महाप्रभु के शिष्य थे और चार ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी।

यद्यपि कृष्ण भक्ति शाखा में वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों का प्राधान्य है तथापि अन्य कृष्णोपासक सम्प्रदायों ने भी कृष्ण-काव्य की अभिवृद्धि करने में योग दिया है। उनका उल्लेख पीछे किया जायगा।

सूरदास जी

जीवन-वृत्त—सूरदास की जन्मभूमि रुनकुता (रेणुका क्षेत्र) ग्राम में बतलाई जाती है। यह स्थान आगरे से मथुरा जाने वाली सड़क पर है। कुछ लोग इनकी जन्म-भूमि दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम में बतलाते हैं। गोस्वामी गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवों की वार्ता के आधार पर इनको सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है और इनके पिता का नाम रामदास बतलाया जाता है। लेकिन डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'विचार धारा' नाम के निबन्ध-संग्रह में जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि वार्ता में इस बात का उल्लेख नहीं है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूरदासजी गऊ घाट पर रहते बतलाये गये हैं—'सो गऊ घाट ऊपर सूरदासजी कौ स्थल हुतौ' यह गऊ घाट आगरा मथुरा की सड़क पर रुनकुता के पास है। सूरदासजी के सारस्वत होने की बात चौरासी वैष्णवों की वार्ता पर तो नहीं

किन्तु श्री हरिराय कृत भाव प्रकाश पर, जो एक प्रकार से वार्ता की टीका है, निर्भर हो सकती है । उसमें लिखा है 'सो सूरदासजी दिल्ली के पास चारि कोस उरे में एक सीही गाम है, जहाँ राजा परीक्षित के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है । सो ता गाम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रकटे' ।

दूसरा मत यह है कि सूरदासजी ब्रह्म-भट्ट थे और चन्दवरदाई उनके पूर्व पुरुषों में से थे । यह मत साहित्य लहरी के एक पद पर अवलम्बित है । इनके पिता का नाम हरिश्चन्द्र था और ये सात भाई थे । जब इनके शेष छः भाई मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे गये तब ये निरीह और नेत्रहीन अपने भाइयों की खोज में जाते हुए एक दिन कुंए में गिर पड़े और छः दिन तक वहीं रहे । सातवें दिन भगवान कृष्ण ने इनको दृष्टि प्रदान कर अपने दर्शन कराये । किन्तु इन्होंने भगवान के दृष्टि सम्बन्धी वर से लाभ उठाना नहीं चाहा और उनसे प्रार्थना की, जिन नेत्रों से मैंने अपने भगवान को देखा है उनसे और किसी को न देखूँ—फिर वे नेत्रहीन हो गये । इसी घटना के सम्बन्ध में एक दोहा प्रचलित है—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे, मर्द बदोंगो तोहि ॥

इस दोहे में एक अपभ्रंश दोहे की छाया मालूम पड़ती है । इसलिए इसके प्रमाणित होने में सन्देह है ।

एक किंवदन्ती ऐसी भी है कि सूरदासजी ने एक सुन्दरी द्वारा, जिस पर कि वे आसक्त हो गये थे अपने दोनों नेत्र फुड़वा लिये थे क्योंकि वे अपने नेत्रों को ही अपने मन विचलित होने का कारण समझते थे । इस सम्बन्ध में रवीन्द्र बाबू की लिखी हुई 'सूरदासेर प्रार्थना' नाम की एक बड़ी सुन्दर और भावपूर्ण कविता है ।

जो कुछ भी हो, यह बड़े भावुक पुरुष थे । इनकी कविता से ऐसा मालूम होता है कि वे जन्मान्ध तो न थे क्योंकि उनके वर्णन ऐसे सजीव हैं कि ऐसा वर्णन कोई अन्य पुरुष, जिसको कि निजी अनुभव न हो, नहीं कर सकता । उन्होंने बाल कृष्ण के सोते हुए अधरपुट हिलाने का अथवा गोपिकाओं

की क्रीड़ादि का जो वर्णन किया है वह ऐसा नहीं है कि किसी से सुनकर लिख दिया गया हो। इसी के साथ-साथ जान-बूझकर आँखें फुड़वाने की बात भी घटना-सत्य नहीं जान पड़ती (यद्यपि इसमें काव्यगत सत्य बहुत कुछ है) यदि अपने आप आँख फुड़वाई होती तो वे भगवान को अपने अन्धे होने का उलाहना न देते—

मित्र सुदामा कीन अयाचक, प्रीति पुरानी जानि।
सूरदास सों कहा निठुरई, नैनन हू की हानि॥

जन्म और स्वर्गवास संवत्

सूरदास जी का जन्म सं० १५४० के आस-पास माना जाता है। 'साहित्य लहरी' के एक दोहे में दिये हुये संवत् के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है। 'साहित्य लहरी' संवत् १६०७ में बनी थीं। इस सम्बन्ध में नीचे का दोहा प्रचलित है:—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि सुवल संवत् पेख॥

इसका साधारणतया यह अर्थ लगाया जाता है मुनि = ७, रसन = शून्य रस = ६, कविता के नौरस होते हैं लेकिन भोजनों के षटरस ही मशहूर हैं। इसलिये कुछ लोग इस दोहे में रसन के स्थान में रसना का पाठान्तर पाते हैं (देखिए मुंशीराम शर्मा का 'सूरसौरभ') 'दसन गौरी नन्दको' का अर्थ होता है १, क्योंकि गणेशजी के एक ही दांत था। 'अंकानां वाम तो गतिः' के न्याय इसका अर्थ होता है १६०७। सूर-सारावली जब बनी थी तब उनकी अवस्था सड़सठ वर्ष की थी (गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन) यह दोनों पुस्तकें एक ही समय की मान ली जाँय तो यह संवत् ठीक बैठता है।

काँकरौली विद्या-विभाग से प्रकाशित प्राचीन वार्ता रहस्य में लिखा है कि निजी वार्ता के अनुसार महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य तथा सूरदास जी का जन्म संवत् एक ही है। इस हिसाब से जन्म संवत् १५३५ होता है। संभव है दोनों पुस्तकों में पाँच वर्ष का ही अन्तर हो।

संवत् १६२० के लगभग पारसौली नामक ग्राम में इन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उस समय श्री विट्ठलनाथ जी उपस्थित थे और उनकी उपस्थिति में सूरदास जी ने निम्नलिखित पद गाया—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
उड़ि उड़ि जात निकट श्रवननि के उलट-पलटि ताटंक फदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहि उड़ि जाते।

ग्रन्थ—सूरदास जी कृत पाँच ग्रन्थ बतलाये जाते हैं :—

१—सूर सागर, २—सूर-सारावली, ३—साहित्य-लहरी; ४—नल दमयन्ती, ५—ब्याहलो।

पिछले दो ग्रन्थ अप्राप्य हैं और उनके सूर-कृत होने में भी सन्देह है। सूरसागर श्रीमद्भागवत् की काव्यमयी छाया है किन्तु अनुवाद नहीं है। * यह छाया सूर की भावुकता के साथ कहीं घटी हुई तो कहीं बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है। इसमें दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण लीलाओं का सुमधुर और सविस्तार वर्णन है और श्रीमद्भागवत् से अधिक विशद है। शेष स्कन्धों का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त और चलता हुआ है। सूरसागर ही सूरदासजी की मुख्यकृति है। सूरसागर वास्तव में सागर ही है। यह सवा लाख पदों का बताया जाता है, यद्यपि आजकल जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें चार या पाँच हजार ही पद मिलते हैं। सूरदास जी ने कुछ दृष्टिकूट भी लिखे हैं जिनमें कुछ अलंकार और नायिका भेद भी आजाता है।

रस—सूरदास जी की कविता में यद्यपि सभी रसों का पुट मिलता है तथापि उसमें शृंगार, वात्सल्य और शान्त की ही मुख्यता है। ये तीनों रस मनुष्य जीवन की तीनों अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। वात्सल्य का सम्बन्ध बाल्यावस्था से है। शृंगार का यौवनावस्था से और शान्त का वृद्धावस्था से। शृंगार वर्णन में वे किसी कवि से पीछे नहीं हैं, वात्सल्य रस के सम्बन्ध में यह

* इसका पूरा विश्लेषण डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा की विचार धारा में मिलेगा।

निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि कोई उनकी छाया भी नहीं छू पाता और शान्त रस में वे शायद तुलसी से पीछे रह जाते हैं किन्तु बहुत पीछे नहीं। उनकी विनय में एक निजीपन है जो उसे एक विशेष माधुर्य प्रदान कर देता है। 'सूरदास द्वारे ठाढ़ो आँधरो भिखारी' में उनकी अवस्था से सामंजस्य रखता हुआ कैसा दैन्यभाव है!

उनका वात्सल्य वर्णन एक प्रकार से बाल मनोविज्ञान का माधुर्य पूर्ण अध्ययन है। भगवान् कृष्ण की बाललीलाओं का ऐसा सुन्दर सरल और सरस वर्णन है कि पृथ्वी पर ही स्वर्ग अवतरित हो जाता है। यद्यपि सूर ने कृष्ण को 'हरि' कह कर उनका देवत्व स्वीकार किया है तथापि ये वर्णन ऐसे हैं कि बिना भक्त-भावना वाला मनुष्य भी उनको पढ़ कर भावमय हो जाता है और सूर के स्वर में स्वर मिला कर कह सकता है कि 'जो सुख सूर अमर-मुनि दुर्लभ सो नंद भामिनि पावै।'

सूर का शृङ्गार वर्णन भी बड़े महत्व का है। उसमें कवि-परम्परा का पालन मात्र नहीं है वरन् उसमें जीवन की सजीवता और पूर्णता लक्षित होती है। कृष्ण और गोपियों का शृङ्गार एक व्यापक जीवन का अङ्ग बन जाता है। इसीलिये उनका वियोग एक विशेष तीव्रता धारण कर लेता है। सूर का भ्रमरगीत वियोग शृङ्गार का ही उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं हैं वरन् उसमें सगुण और निर्गुणवाद का भी सुन्दर काव्यमय विवेचन है। गोपियों के व्यंग्य और उपालम्भ उनकी सजीवता के परिचायक हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण जी ब्रज से अधिक दूर न थे और न प्रेमी और प्रेमिकाओं की किसी प्रकार से जान खतरे में थी तथापि वे राजनीति के चक्कर में पड़ कर तथा कुब्जा के प्रभाव वश गोपियों से कुछ उदासीन से होगये थे। 'हरि राजनीति पढ़ि आये' स्थान की दूरी का प्रश्न न था, मन की दूरी अखरती थी। मेढक जल में रह कर भी कुमुदिनी से दूर हैं और चन्द्रमा दूर रह कर भी उसके पास है। इसी कारण गोपियों के विरह की सार्थकता है।

भाषा—सूर की भाषा साहित्यिक ब्रज भाषा है जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत का भी पुट है किन्तु बहुत अधिक नहीं है। कहीं-कहीं चलन से

उतरे हुए ब्रज भाषा के ठेठ ग्रामीण शब्द आगये हैं। उनकी भाषा में माधुर्य गुण पूर्णतया निभाया गया है। सूर के शब्दों में बड़ी सुन्दर व्यंजना रहती है। योग का तिरस्कार करने के लिए उसे 'मोठ' और 'खेप' कहा है, जिससे एक दम उसकी अल्प-मूल्यता और निरर्थकता का चित्र उपस्थित हो जाता है। सूर ने मुहावरों का भी बड़ा सार्थक प्रयोग किया है।

सूर की भाषा में पूर्वी प्रयोग जैसे मोर, हमार, कौन आदि भी यत्र-तत्र मिलते हैं। कहीं-कहीं गहिबी, साहिबी आदि बुन्देलखण्डी प्रयोग भी आगये हैं। एक आध पंजाबी शब्द भी जैसे प्यारी, मँहगी के अर्थ में आगया है।

सूर और तुलसी की भक्ति-भावना

जैसा कि ऊपर कहा गया है सूरदासजी की दीक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय की है। उनकी उपासना बालकृष्ण की थी और भक्ति सखा भाव की। कुछ लोग उनको उद्धव जी का अवतार भी मानते हैं। इसी आधार पर श्रद्धेय मिश्र बन्धुओं का यह विचार है कि सूरदास जी बड़े अक्खड़ थे इसलिए अपने भगवान् को गोपियों के मुख से खरी-खोटी कहलाने में नहीं चूके। मिश्रबन्धुओं ने इनके मुकाबिले तुलसीदासजी को चापलूस ठहराया है। आचार्य शुक्लजी ने इस मत का घोर विरोध किया है। जिन प्रसंगों में भगवान को खरी-खोटी सुनाई गयी है वे श्रृङ्गार और वात्सल्य के हैं। उनमें प्रेमाधिक्य के कारण खरा-खोटा कहा ही जाता है। यशोदा के लिए तो मथुरा में पराक्रम दिखाने वाले कृष्ण 'छगन मगन' और 'ललित लवैते' ही बने रहते हैं। इसमें अक्खड़पन की कोई बात नहीं है। तुलसीदासजी की भक्ति-भावना में दास-भावना का प्रभाव ऐसा बढ़ा-चढ़ा था कि वे उन प्रसङ्गों को आने ही न देते थे जिनमें कोई खरी-खोटी कहे। इसीलिए ही उन्होंने लवकुश काण्ड नहीं लिखा। सूरदासजी ने जहाँ विनय की है, वहाँ दीनता और हीनता दिखलाने में तुलसीदासजी से पीछे नहीं हैं।*

---

*इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि सूर ने दीनता के पद महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व लिखे, उसके बाद उनकी उपासना सखा भाव की हो गई।

"प्रभु मैं सब पतितन को टीको"

× × ×

"जैसे ही राखौ तैसेहि रहिहौं ॥"

× × ×

"कमल नयन घनश्याम मनोहर अनुचर भयौ रहौं ।
सूरदास प्रभु जगत कृपानिधि अनुचर चरन गहौं ॥"

सूरदासजी अनुचर अवश्य थे पर घर के मुँह लगे अनुचर थे—

'तुव प्रताप बदत न काहू निडर भये घर चेरे ।'

इसीलिये कहीं-कहीं वे भगवान से अकड़ जाते हैं और उन्हे 'विरद-बिनु' करने की धमकी देते हैं। तुलसीदासजी भी उपालम्भ देते हैं किन्तु मर्यादा के भीतर। उनके उपालम्भोंसे भी उनकी अनन्यता प्रकट होती है—

दूबरे को दूसरो न द्वार राम दया धाम,
सबरी ही गति बल-विभव-विहीन की।

जब बेचारे इतना कह लेते हैं तब कहीं विरद को लज्जा आने की बात उठाते हैं—

लागैगी पै लाज वा विराजमान विरुदहि,
महाराज आज जो न देत दाद दीन की।

तुलसीदासजी से चापलूसों की सी हृदय की बेईमानी कोसों दूर थी। जो कुछ लिखा दैन्य और सेवक भाव से लिखा और सच्चे हृदय से। तुलसीदासजी अपने मर्यादावाद के कारण अपने इष्टदेव में अनन्य भक्ति रखते हुए भी दूसरे देवताओं की अधिक बुराई नहीं करते किन्तु सूरदास और देवताओं की बुराई करने में नहीं चूकते—

'और देव सब रंक, भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे ।'

तुलसी की भक्ति-भावना नीति समन्वित थी। सूर ने नीति की अवहेलना की है। तुलसी के मर्यादावाद ने उसका साथ कहीं नहीं छोड़ा है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि सूर अपने इष्टदेव के माधुर्य के उपासक थे और तुलसीदासजी उनके ऐश्वर्य के। इसी अन्तर के कारण सूर और

तुलसी के वात्सल्य वर्णन में अन्तर पड़ जाता है। तुलसीदासजी गीतावली के वात्सल्य वर्णन में सूर के बहुत निकट पहुँच जाते हैं। उन्होंने राम-लक्ष्मण के बाल-विनोद का अच्छा वर्णन किया है किन्तु वे यह नहीं भूल सकते कि राम और लक्ष्मण राजकुमार हैं। बाल्यावस्था की चपलता, समता की भावना एवं स्वतन्त्रता ही तो उस अवस्था में आकर्षण उत्पन्न करती हैं। तुलसी के राम की चपलता मर्यादित है, वे गुरु से थोड़ी देर अलग रह कर चपलता कर लेते हैं, फिर फौरन उनके साथ हो जाते हैं। वे प्रायः राजकुमारों के साथ खेलते हैं। 'खेलत में को काको गुसैयां' की सी बाल-गोपालों की स्वातन्त्र्य-भावना उनमें नहीं है।

कुछ विशेषताएँ—

मिश्रबन्धुओं ने सूर-काव्य की विशेताएँ इस प्रकार बतलायी हैं:—

(१) अटलभक्ति—कर्मभेद, जातिभेद सब के ऊपर है।

(२) भाषा—शुद्ध व्रजभाषा है। बड़ी ही ललित और श्रुति-मधुर है। मीलित वर्ण बहुत कम हैं। उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण प्रधान हैं। कहीं यमक आदि के लिए भाव नहीं बिगाड़े। इनके पद अर्थ गम्भीरता से भरे हुए हैं। संस्कृत के पद बहुतायत से नहीं रक्खे।

(३) प्रबन्धध्वनि—अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है।

(४) प्रत्येक वस्तु का सांगोपांग वर्णन करते हैं, और कवियों के लिए बहुत गुञ्जाइश नहीं छोड़ते।

(५) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका भेद भी दिया है परन्तु रीति-ग्रन्थों की भाति नहीं।

(६) सतसङ्ग तथा प्रीति आदि विषयों का वर्णन भी अच्छा है।

(७) सूर ने स्थान-स्थान पर कूट भी लिखे हैं।

(८) लोगों का शील-गुण भी अच्छा दिखलाया है जैसे यशोदा का।

नन्ददास—गोस्वामी गोकुलनाथजी ने अपने चौरासी वैष्णवों की वार्ता में इनको गोस्वामी तुलसीदासजी का भाई बतलाया है। गोस्वामीजी के

ही अनुकरण में इन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा भाषा पद्य में लिखी है। नन्द दास के ही साथ वृन्दावन जाने पर तुलसीदासजी ने श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने यह प्रसिद्ध दोहार्ध कहा था—

'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेहु हाथ' ॥

तुलसीदास और नन्ददास के भाई-भाई होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। तुलसीदासजी के भाई होने की बात चौरासी वैष्णवों की वार्ता पर अवलम्बित है। भक्तमाल में इनको चन्द्रहास का भाई कहा है और गुसाइं चरित में इनको तुलसीदासजी का गुरु भाई बतलाया गया है। 'सिच्छा गुरु बन्धु भये तिहिते'। इसलिए यह बात अनिश्चित सी हो जाती है। अष्टछाप के सभी कवियों में सूरदास को छोड़ कर इनकी अधिक प्रसिद्धि है। इनके लिए कहा जाता है—"नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया।' इन्होंने एक-एक पद को काट-छाँट कर उसे नगीने का सा सौन्दर्य प्रदान किया है। इनकी रास-पंचाध्यायी बहुत प्रसिद्ध है। इसमें भगवान की रासलीला का बड़ा सुन्दर, प्रवाहमय और सजीव भाषा में वर्णन है। उसकी उत्साहपूर्ण गति का चित्र सा हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, देखिये—

छवि सों नित्तनि, पटकनि लटकनि, मंडल डोलनि।
कोटि अमृत सम मुसकनि, मँजुलता थेई-थेई बोलनि ॥

इसी प्रकार नन्ददासजी के ध्वनि के भी सुन्दर चित्र दिए हैं, देखिए—

नूपुर, कंकन, किंकिन, करतल मँजुल मुरली।
ताल, मृदङ्ग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली ॥
मृदुल मुरज-टंकार, तार-झंकार मिली पुनि।
मधुर जंत्र की तार, भँवर गुंजार रली पुनि ॥

पहले उद्धरण में नन्ददास टवर्ग प्रधान ओज गुण को भी शृङ्गार का सहायक बनाने में सफल हुए हैं। गोपियों के दैन्य दिखाने में कवि ने अलङ्कारों के आडम्बर से शून्य सरल भाषा द्वारा भवभूति की करुणा को भी लज्जित-सा कर दिया है। 'कह घटि जे है नाथ ! हरत दुख हमरे हिय के।'

नन्ददासजी ने रास पंचाध्यायी को लौकिक शृंगार वर्णन के रूप में नहीं लिखा है। वे रासलीला को गोलोक की नित्य लीला का ही अंश मानते हैं। 'नित्य रास रमनीय नित्य गोपीजन वल्लभ' इस दृष्टिकोण से, कम से कम भक्तों के लिए, नन्ददास के शृंगारिक वर्णनों की ऐन्द्रिकता उद्वेगजनक नहीं होती। लौकिक दृष्टि से भी रासपंचाध्यायी के वर्णन बड़े सजीव और सरस हैं। इनकी भाषा में अनुप्रास और पद-विन्यास का विशेष सौन्दर्य है। सूरदास ने चलती हुई भाषा का स्वाभाविक माधुर्य दिखलाया है और उन्होंने इसे शब्दालङ्कारों से विभूषित कर दिया है। रास पंचाध्यायी के अतिरिक्त १—भ्रमर गीत, २—अनेकार्थ-मञ्जरी ३—अनेकार्थ माला, ४—रस-मंजरी ५—स्याम-सगाई, ६—रुक्मिनी मंगल आदि नन्ददासजी के बहुत से ग्रन्थ प्रयाग विश्व-विद्यालय के संग्रह में प्रकाशित हो गए हैं। इनमें भ्रमर-गीत अधिक लोकप्रिय है। इसमें भावुकता की अपेक्षा तार्किकता का प्राधान्य है। इनकी गोपियों में बुद्धि-वाद का बाहुल्य है। देखिए—

जो उनके गुन नाँहि और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमें, मोहि तुम कहो कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री, माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमलवारि मिल कीच॥
सखा सुन स्याम के।

अन्त की छोटी पंक्ति नन्ददास के भ्रमर-गीत की विशेषता है, इसका सत्यनारायणजी ने अपने भ्रमर-दूत में बड़ी सफलतापूर्वक अनुकरण किया है।

कृष्णदास—ये जाति के शूद्र थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य और कृपापात्र होने के कारण मन्दिर के मुखिया बन गये थे। इनके "जुगल-मान चरित" के अतिरिक्त "भ्रमर-गीत" और "प्रेमतत्व निरूपण" नाम के दो और ग्रन्थ बतलाये जाते हैं।

अष्टछाप के अन्य कवि—अष्टछाप के प्रायः सभी कवि अपनी अनन्यता और तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये लोग अच्छे गायक थे और

ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार रखते थे। ये लोग हृदय की अनुभूति से प्रेरित हो अपने भावों को सङ्गीतमयी भाषा में अभिव्यञ्जित करते थे। इनकी रचनाएँ स्वान्तः सुखाय होती थीं। वे राज्याश्रय नहीं चाहते थे। अकबर बादशाह के निमन्त्रण देने पर कुम्भनदासजी को फतहपुर सीकरी जाना पड़ा था किन्तु राज दरबार में जाना उनकी रुचि के अनुकूल न था। नीचे के पद से प्रकट होता है कि उनको दरबार में जाने से कितनी ग्लानि हुई थी—

सन्तन कहा सीकरी सन काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनको करवे परी सलाम॥

अष्टछाप के कवियों की वाणी में भगवद्भक्ति के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से पवित्र की हुई ब्रजभूमि के प्रति भी विशेष श्रद्धा प्रकट होती है।

'हे विधना तो सों अँचरा पसारि माँगों,
जनम जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिवो।

ब्रज की महिमा के साथ वहाँ के प्राकृतिक वर्णन का दृश्य भी अच्छा है।

अन्य सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्ति कवि

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अष्टछाप के कवि, वल्लभ-सम्प्रदाय के थे। इनके अतिरिक्त चार और वैष्णव-सम्प्रदायों को मुख्यता दी जाती है। वे इस प्रकार हैं:—

१—राधावल्लभी सम्प्रदाय, २—गौड़िया सम्प्रदाय, ३—टट्टी सम्प्रदाय ४—निम्बार्क सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों ने भी बड़े-बड़े रसिक और भावुक कवियों को जन्म दिया है। उनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है।

श्री **हित हरि वंश**—ये राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे और इनका जन्म मथुरा के निकट बाद ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि स्वयं ही राधिकाजी ने इनको मंत्रदीक्षा दी थी। इनके सम्प्रदाय में राधिकाजी को स्वयं भगवान से भी अधिक प्रधानता दी जाती है क्योंकि भगवान अपनी

प्रकृति के ही वशीभूत रहते हैं। इनके 'हित चौरासी' नाम के चौरासी पद भाषा के संगीतमय प्रवाह और माधुर्य के कारण बहुत ही श्रेष्ठ और आकर्षक हैं। अपनी रचना के माधुर्य के कारण ये श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। इन्होंने 'राधा-सुधा-निधि' नामक एक संस्कृत का ग्रन्थ भी लिखा है। ध्रुवदासजी और वृन्दावन चाचा भी इन्हीं के सम्प्रदाय के थे।

हित हरिवंशजी की कविता का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

आजु बन नीको रास बनायो।
पुलनि पवित्र सुभग जमुना-तट, मोहन बेनु बजायौ।
कल कङ्कन किंकिन नूपुरु-धुनि, सुनि खग मृग सचु पायौ॥
जुवतिन-मण्डल मध्य श्यामघन, सारंग राग जमायौ।
ताल मृदंग उपंग मुरज, ढफ, मिलि रस-सिन्धु बढ़ायौ॥
\+ × × +
अभिनय निपुन लटकि लटि लोचन, भृकुटि अनन्द नचायौ।
ततथेई-तायेई धरित नवल गति, पति ब्रजराज रिझायौ॥
सकल-उदार नृपति-चूड़ामणि, सुख-बारिद बरसायौ।
× × × ×
हित हरिवंश रसिक राधापति जस-वितान जग छायौ॥

गदाधरभट्ट—ये गौड़िया सम्प्रदायों के कवियों में प्रमुख हैं। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इनकी भाषा में संस्कृत का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इन्होंने श्री कृष्णजी की वन्दना के साथ नन्द और यशोदा की भी वन्दना की है। इन्होंने होली तथा झूला झूलने के बड़े सजीव वर्णन किए हैं। देखिये—

मिलि खेलै फाग वल्लभ वाला।
संग छरे रस रंग भरे नवरंग त्रिभंगी लाला॥
बाज्यत बाँसुरि चंग उपंग पखावज आवज ताला।
गावत गारी दे दे व्रजनारी मनोहर गीत रसाला॥
सींचत रंगनि अंग भरे बढ्यो प्रेम प्रवाह बिसाला।
मैन सैन खुररेन उड़ी नभ छायो अबीर गुलाला॥

'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' जिन महानुभावों का मन्दिर साहजी साहब के नाम से प्रख्यात है, इस सम्प्रदाय के अच्छे कवि हैं। श्री हरिराम व्यास का भी कुछ दिनों गौड़िया सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहा। व्रज के प्रति इन भक्तों की बड़ी श्रद्धा थी

ऐसे ही बसिये व्रज बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदर पोषियत सीथिन॥
घूरिनि में के बीन चिनगरा रक्षा कीजै सीतन॥

हरिदास—ये महाशय पहले तो निम्बार्क सम्प्रदाय के थे फिर इन्होंने स्वतन्त्र टट्टी सम्प्रदाय के नाम से एक मठ स्थापित किया। ये गाने में बड़े निपुण थे और स्वयं तानसेन के भी गुरु थे। इनका काव्य सङ्गीत से बँधा हुआ और राग रागनियों में गाने योग्य है।

वैसे तो हिन्दी-साहित्य में कृष्णोपासना की भरमार रही है और अनेकों कवियों ने कृष्ण और राधा की प्रेम लीलाओं का वर्णन किया है किन्तु कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले कवियों में नीचे लिखे कवियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—मीराँ, रसखान और घनानन्द।

मीराँ—इनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ते में हुआ था। 'क्षत्रि-वंश जन्म मम जानो नगर मेड़ते आना', जोधपुर राज्य के बसाने वाले राव जोधाजी इनके प्रपितामह थे। ये रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनको बालकपन से ही गिरधरलाल जी का इष्ट होगया था और वे अपने को उन्हीं से विवाहित समझती थीं। इनका सांसारिक विवाह भोजराजजी से हुआ था। किन्तु थोड़े दिन के पश्चात् इनके पतिदेव की मृत्यु होगई। ये साधुओं के सत्संग में अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थी किन्तु इनके घर के लोग इस बात से नाराज थे। कहा जाता है कि इनको भगवान के चरणामृत के धोखे विषपान कराया गया था—किन्तु उसका कुछ असर न हुआ। 'राणाजी भेजा विष का प्याला सो अमरत कर पीज्यो जी'। तुलसीदासजी से इनका पत्र-व्यवहार होना भी बतलाया जाता है। गोस्वामीजी का निम्नलिखित पद इनके ही पत्र

के उत्तर में लिखा हुआ कहा जाता है—

जाके प्रिय न राम वैदेही—

तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥

इस घटना की वास्तविकता में लोग संदेह करते हैं। तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में हम इस बात का विवेचन कर चुके हैं। मीराँ के बनाये हुए चार ग्रन्थ कहे जाते हैं—

१—नरसी का मायरा, २—गीत गोविन्द टीका, ३—राग गोविन्द और ४—राग सोरठा।

इनकी वाणी का गुजरात में बहुत आदर है। इनके पद कुछ राजस्थानी में है और कुछ शुद्ध व्रजभाषा में। जो पद इन्होंने लिखे हैं वे तन्मयता से भरे हुए हैं। इनकी प्रेम-पीड़ा में निजीपन अधिक है। इन्होंने गोपियों का विरह वर्णन न कर अपना विरह वर्णन किया है। इनके पदों से इनकी तीव्रानुभूति का परिचय मिलता है। मीराँ ने अपनी तन्मयता के ही कारण इतनी ख्याति प्राप्त की है और हृदय की तीव्र समवेदना के कारण ही उनकी वाणी में इतना जोर आसका है।

मीरा के दो पद नीचे दिये जाते हैं:—

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहिनी मूरति साँवरि सूरति नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर वैजन्ती माल ॥
छुद्रघन्टिका कटि-तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल ॥

स्याम, मने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल चाकर राखो जी ॥
चाकर रहेसू, नित-उठ दरसन पांसू।
चाकरी में दरसन पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बातां सरसी ॥

× × ×

हरे हरे नित बाग लगाऊँ बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरिया के दरसन पाऊँ पहर कुसम्भी सारी॥

दूसरे पद में मीराँ का निजी उत्साह झलक रहा है। इसी की छाया लेकर कवि सम्राट रवीन्द्र बाबू ने अपनी Gardner नाम की कविता की, जिसमें बागवान रानी से उसके यहाँ नौकरी करने की प्रार्थना करता है। वेतन पूछे जाने पर वह कहता है, एक माला नित्य समर्पित करने का अधिकार— मीराँ के 'सुमिरण परऊँ खरची' (जेब खर्च) का ही भाव है।

रसखान—ये हिन्दी के मुसलमान कवियों में बहुत प्रसिद्ध हैं। ये जाति के पठान थे और इनका शाही खानदान से भी सम्बन्ध था। (छिनहि बादिसा वंस की, ठसक छोड़ि रसखान)। इन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी। इनका उल्लेख दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में हुआ है। प्रारम्भिक जीवन में ये एक लड़के पर आसक्त थे। किन्तु पीछे से इनका भौतिक प्रेम कृष्ण-प्रेम में परिणतहो गया। इनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं 'प्रेम वाटिका' और 'सुजान रसखान'। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रेम का बहुत ही सुन्दरस्वरूप दिया है। इन्होंने एकांगी और निस्वार्थ प्रेम को ही प्रेम का आदर्श माना है।* इन्होंने गेय पद न लिखकर ऐसे सुन्दर कवित्त और सवैये लिखे हैं कि उनकी सुन्दरता के कारण सवैया रसखान के ही नाम से पुकारे जाने लगे। वास्तव में इनके सवैये रस की खान हैं। रसखान में चलती हुई शुद्ध ब्रजभाषा का अच्छा नमूना मिलता है। इन्होंने अपनी कविता में चलन से बाहर के शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इनका ब्रजभूमि से बड़ा प्रेम था। नीचे के सवैये में इनका प्रेम लबालब भरा हुआ दिखलाई पड़ता है:—

मानुष हौं, तो वही रसखान बसौं ब्रज-गोकुल-गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं, तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं, तो वही गिरि को, जु धरयो कर छत्र पुरंदर-धारन।

---

* इक अंगी, बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान।
गनै प्रियहिं, सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल कदम्ब की डारन ॥

इनके उपालम्भ बड़े सुन्दर हैं, देखिए:—

दानी भये नये मांगत दान;
सुनै जु पै कंस तो बांधिक जैहौ ॥
रोकत हौ वन में 'रसखानि'
पसारत हाथ घनो दुख पैहौ।
टूटै छरा बछरा अरु गोधन,
जो धन है सु सबै धरि देहौ।
जैहै अभूषन कांहू सखी कौ,
तो मोल छला के, लला न बिकैहौ ॥

रसखान भी सूरदासजी की भाँति वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे और सखा-भाव की उपासना करते थे। तभी तो इनके इन उपालम्भों में इतनी स्वतन्त्रता और अक्खड़पन की भावना है।

भारतेन्दुजी ने ठीक कहा है 'इन मुसलमान हरिजननपै कोटिन हिन्दू वारिए'।

घनानन्द—यद्यपि काल-विभाग से इनकी गणना रीति-काल के कवियों में की जाती है तथापि इनका कृष्णोपासक भक्त कवियों के साथ उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। इनकी कविता में रीति-काल के कवियों की अपेक्षा निजीपन और हृदय का उल्लास अधिक था। इनमें भक्तों की सी त्याग-वृत्ति भी थी। इनका जन्म सं० १७४६* के लगभग हुआ था। ये सं० १७९६ में नादिरशाह के सिपाहियों के हाथ से मारे गये थे। ये मुहम्मदशाह के मीर मुन्सी थे। सुजान नाम की एक वेश्या पर आसक्त थे। इनकी कविता में सुजान का नाम बहुतायत से मिलता है। इन्होंने बहुत सुन्दर कवित्त सवैये लिखे हैं। फुटकर सवैयों के अतिरिक्त सुजानसार, विरह-लीला, कोक-सार, रसकेलि वल्ली और कृपा-काण्ड नामक ग्रन्थों का और पता लगता है।

---

* बाबू अमीरसिंह ने अपने 'रसखान घनानन्द' की भूमिका में घनानन्द का जन्म संवत् १७६५ बतलाया है।

ये निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

विशुद्ध ब्रजभाषा लिखने में इनका नाम रसखान के साथ लिया जाता है। इनकी भाषा में विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी है। इन्होंने विरह के छन्द अच्छे लिखे हैं। इनके विरह-वर्णन के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का इस प्रकार कथन है—

'ये वियोग-श्रृङ्गार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। इनके भावों में स्वाभाविक मृदुलता और कोमलता है, उद्वेग और भड़कन नहीं। इनका विरह प्रशान्त समीर के रूप में है, अन्धड़ और तूफान के रूप में नहीं। यही इनकी विरह-वेदना की विशेषता है। यही इनके गूढ़ और गम्भीर प्रेम का लक्षण है। सच्चे गम्भीर भावुक होने के कारण इन्होंने बिहारी आदि के समान विरह-ताप की अत्युक्ति का खिलवाड़ नहीं किया है। प्रेम मार्ग का ऐसा धीर और प्रवीण पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।'

इनकी कविता के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

तब तो तुम दूरहिं तें मुसिकाय,
बचाय कैं और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी,
रचाय कैं नैनन में सरसे॥
अब तो उर माँहिं बसाय कै मारत,
एजू बिसासी, कहाँ धौं बसे ?
कछु नेह-निवाह न जानत हे,
तो सनेह की धार में काहे धँसे॥

घनानन्दजी का मेघदूत देखिये। बादल को उसके अनुकूल ही काम सौंपा गया है:—

परकाजहिं देह को धारे फिरौ 'परजन्य' जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ॥

घन आनन्द जीवन-दायक हौ कछू मेरियौ पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौं लै बरसौ॥

इन कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त और कवियों ने भी कृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखा। उन सबका वर्णन तो क्या उनकी नामावली देना भी कठिन है। यह कृष्णभक्ति-शाखा बहुत दिनों तक पल्लवित होती रही। रीतिकाल में भी इसका प्रभाव रहा, और उस समय भी महाराजा नागरीदास जैसे बहुत से भक्त कवि हुए। आजकल भी राम और कृष्ण सम्बन्धी कई उत्तम काव्य रचे गये हैं।

कृष्ण-भक्त कवियों की यह महत्ता रही कि इनके कारण ब्रजभाषा का रूप निखरा और उसका मान बढ़ा। यहाँ तक कि मुगल दरबारों में भी इसकी चर्चा होने लगी। अकबरी दरबार कवियों का आश्रय स्थान बन गया। अकबरी दरबार के कवियों ने भक्ति के अतिरिक्त शृंगार और नीति आदि अन्य विषयों पर फुटकर रचनायें कीं। अकबरी दरबार के कवियों में रहीम, गंग, नरहरि, बीरबल और टोडर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस काल के कवियों में अकबर और जहाँगीर के समय के जीवन की उछल-कूद की छाप मिलती है। यद्यपि कहीं-कहीं कृष्ण-क्रन्दन की छाया दिखलाई देती है, तथापि वह और रंगों में इतनी मिल जाती है कि उसका गहरा प्रभाव नहीं पड़ने पाता।

अकबरी दरबार के कवि

रहीम—इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। खानखाना बैराम खाँ इनके पिता थे। ये प्रकृति के बड़े दयालु थे। दानशीलता में इनकी कर्ण से तुलना की जाती है। गोस्वामी, तुलसीदास जी से इनकी विशेष घनिष्ठता थी। इन्होंने तुलसी के "सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय"। दोहार्द्ध की इस प्रकार पूर्ति की थी—"गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय"। ये राज-काज में दक्ष होते हुए भी बड़े साहित्यिक और विद्वान् थे। इनको फारसी, अरबी, हिन्दी और संस्कृत पर पूरा अधिकार था। इन्होंने संस्कृत वृतों में भी कुछ कविता की थी। मालिनी

छन्द में लिखा हुआ इनका मदनाष्टक बहुत प्रसिद्ध है। राज्य-कार्य में बहुत दिनों तक रहने के कारण इनको मानव-प्रकृति का अच्छा परिचय होगया था, जिसकी झलक नीति के दोहों में स्पष्ट मिलती है। इनके दोहे बड़े चुभते हुए हैं और उनमें कहीं-कहीं गम्भीर हास्य भी मिलता है। जैसे कि लक्ष्मीजी के सम्बन्ध में कही हुई उनकी यह उक्ति 'पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय।' नायिका-भेद सम्बन्धी इन्होंने बड़े सरस बरवै लिखे हैं। ये बरवै अवधी भाषा में हैं।

गंग और नरहरि—ये दोनों ही अकबरी दरबार के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। गंग ने शृङ्गार और वीर दोनों रसों की कविता की है। इनकी गणना तुलसीदास जी के साथ सुकवियों के सरदारों में की जाती है और दोनों की भाषा में इस बात की समता बतलाई जाती है कि उनमें बहुत सी भाषाओं का सम्मिश्रण है:—

तुलसी गङ्ग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिलै, भाषा विविध प्रकार॥

कहा जाता है कि गङ्ग किसी राजा या नवाब के कोप-भाजन बन गये थे, और हाथी से कुचलवा डाले गये थे।

नरहरि वन्दीजन का भी अकबरी दरबार में अच्छा मान था। कहा जाता है कि उनका एक छप्पय सुन कर अकबर ने अपने राज में गोवध बन्द करा दिया था। इनके तीन ग्रन्थ हैं—रुक्मिणी मङ्गल, छप्पय नीति और कवित्त नीति।

बीरबल और टोडरमल—अकबरी दरबार के उज्ज्वल रत्नों में से थे। बीरबल अपने वाक्चातुर्य के लिए बड़े प्रसिद्ध होगये हैं। ये बड़े गुण-ग्राही थे और कवियों को बहुत दान दिया करते थे। इनकी रचनाओं से यह भली भांति प्रतीत होता है कि ये काव्याङ्गों से भी परिचित थे। महाराज टोडरमल के नीति-सम्बन्धी कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं।

बनारसीदास—ये जैन धर्मावलम्बी थे। ये जौनपुर के रहने वाले थे किन्तु इनका सम्बन्ध आगरे से भी इतना रहा है कि वहाँ के भी निवासी कहे

जाते हैं। घर इनके जवाहिरात का व्यापार होता था। पहले इन्होंने कुछ शृंगार—रस सम्बन्धी कविता की थी किन्तु पीछे से धार्मिक आवेश में आकर इन्होंने अपनी शृङ्गार-रस सम्बन्धी कविता गो तीर्थ में प्रवाहित कर दी। इनकी कविता अधिकतर सुन्दरदास के ढङ्ग पर है जो कि नीति और ज्ञान से भरी हुई है। इन्होंने प्रबोध-चन्द्रोदय के ढङ्ग का 'समयसार' नाम का एक नाटक भी लिखा है। इनकी कविता का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

मोंदू ते हिरदे की आँखें,
जे करखें अपनी सुख सम्पति भ्रम की सम्पति नाखें,
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारें
जिन आँखिन सों लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारें।

इन्होंने अर्ध कथानक नाम से अपनी आत्म-कथा भी लिखी है। इसमें कवि ने अपनी हीनताओं के वर्णन में भी संकोच नहीं किया है। उस समय यूरोप में भी ऐसी आत्मकथा शायद ही लिखी गयी हो। रूसो की आत्म-स्वीकृतियाँ (Confessions) इसके पीछे की चीज है।

सेनापति—इनका जन्म सम्वत् १६४६ के लगभग अनूपशहर में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। ये राज-दरबार के सम्पर्क में अवश्य रहे मालूम पड़ते हैं किन्तु इन्होंने अपने जीवन का उत्तरकाल सन्यास में ही व्यतीत किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इनको राजदरबार से घृणा हो गई थी। 'वारि वरदान तजि पाँय कमलेच्छन के, पायक मलेच्छन के काहे को कहाइये।' इनकी कविता घनाक्षरी में है। भाषा पर इनको पूर्ण अधिकार था। इनकी भाषा बहुत ही सुगठित, सजीव और प्राञ्जल है। ये बड़े भावुक कवि थे। इनका हृदय भक्ति-भावना से भरा हुआ था। यद्यपि ये श्रीकृष्ण के विहार-स्थल वृन्दावन में रहते थे तथापि इनका हृदय रामोपासना में रमा हुआ था। भावुकता के साथ ये काव्य का चमत्कार दिखलाने में भी निपुण थे। इन्होंने अपनी रचना में अनुप्रास और श्लेषों का बड़ा चमत्कार दिखाया है। मुक्तक काव्यकारों में सेनापति का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके दो ग्रन्थ हैं—

काव्य कल्पद्रुम और काव्य-रत्नाकर। इनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है, जिसमें तत्सम शब्दों की ओर झुकाव अधिक है। श्लेष और यमकों का चमत्कार संस्कृत तत्सम शब्दों के सहारे अधिक दिखाया जा सकता है। इनका षटऋतु वर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह उद्दीपन के रूप में लिखा गया है तथापि इसमें संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है। इन्होंने प्रकृति का मानवी भावों के साथ सामंजस्य स्थापित किया है जिसमें संस्कृत कवियों की परम्परा की कुछ झलक मिलती है। ऐसा सुन्दर ऋतु वर्णन हिन्दी-साहित्य में बहुत कम मिलता है.—

वृष को तरनि, तेज सहसो करनि तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग झुरति झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नेक दुपहरि ढरकत होत,
घमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत है॥

*   *   *   *

शिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सुन हाथ पाइ ठिरिकै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
'सेनपति' गाई कछू, सोचि कै सुमिरि कै॥
सीत ते सहस कर सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलों कोक कोकी सों मिलत तौलों होत राति,
कोक अधबीच ही तें आवत है फिर कै॥

सेनापति ने कहीं-कहीं ऋतु-वर्णन केवल चमत्कार प्रदर्शन करने के लिए भी किया है।

यद्यपि केशवदास भी इसी काल में हुए हैं तथापि रीतिकाल से इनका अधिक सम्बन्ध होने के कारण रीति काल में ही इनका वर्णन किया जायगा।

नरोत्तमदास—इनका सुदामा-चरित्र भी इसी काल में लिखा गया है। हिन्दी के खण्डकाव्यों में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। इस ग्रन्थ में व्रजभाषा का माधुर्य पूर्ण रूप से दिखाई पड़ता है। इनमें शब्द-चित्र खींचने की अच्छी कुशलता थी, देखिए—

सीस पगा न झगा तन में,
प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी-दुपटी अरु,
पाँय उपानहुँ की नहि सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक,
रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा॥

इस ग्रन्थ में सुदामा की सन्तोषमयी ब्राह्मण वृति और उनकी धर्मपत्नी की व्यवहार बुद्धि का बड़ा सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है।



रीति काल

सामान्य परिचय—भक्तिकाल में निर्गुण ब्रह्म अथवा उसके सगुण रूप राम और कृष्ण के सम्बन्ध में कविता हुई। किन्तु जितना विस्तार कृष्ण काव्य का है उतना शायद राम-काव्य का नहीं। कृष्ण के माधुर्य के कारण जनता तथा कवियों का उनकी ओर सहज आकर्षण था। कृष्ण-काव्य में शृङ्गार और भक्ति का ऐसा मिश्रण हो गया था कि एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते थे। भक्तिकाल के कवियों ने शृंगार का जो वर्णन किया है वह उनकी प्रगाढ़ भक्ति और प्रेम का ही फल है। उसमें एक जीवन-संगीत था और उसने मृत हिन्दू जाति में जीवन का संचार किया था। कृष्ण-काव्य अपने समय में संजीवन बूटी सिद्ध हुआ था। प्रत्येक अच्छी चीज के साथ कुछ बुराई लगी रहती है। बहुत सी चीजें साधन-रूप में अच्छी रहती हैं किन्तु जब वे ही साध्य बन जाती हैं तब उनमें खोखलापन आ जाता है। जिस शृङ्गार की मदिरा ने भक्तिकाल में औषध का काम किया था वही पीछे से एक घातक व्यसन बन गई। जब तक आकार या कलापक्ष जीवन से सम्बन्धित रहता है तब तक उसमें उन्नति की आशा रहती है किन्तु जब आकार ही की पूजा होने लगती है तब जीवन का स्रोत सूखने लगता है। पहले भक्त कवि शृङ्गार की कविता अपने इष्टदेव की भक्ति का अङ्ग मान कर करते थे। शृंगारिक कविता पीछे कवियोंके हाथ में एक प्रकार का व्यसन मात्र रह गई। राधा और कृष्ण शृंगारिक कविता के आलम्बन मात्र बन गये। वे विभिन्न नायक और नायिकाओं के रूप में दिखलाये जाने लगे। भक्त कवियों में धार्मिक भावना का प्राधान्य था और कवित्व उनके लिए एक गौण वस्तु थी। उनके पीछे से कवियों में कवित्व का प्राधान्य हो गया और

भक्ति उनकी विलासमयी भावनाओं पर सुन्दर आवरण डालने की वस्तु बन गई।

रीतिकाल में आकार के प्राधान्य के और भी कई कारण हो गये थे। कविता 'स्वान्तः सुखाय' न बन कर राज-दरबार की रह गई थी। प्रत्येक कवि अपने प्रतिद्वन्द्वी से बाजी ले जाना चाहता था और अपने आश्रयदाता को 'येन केन प्रकारेण' प्रसन्न करने के अर्थ प्रयत्नशील रहता था। इसके लिए उसे संस्कृत और प्राकृत साहित्य में अवगाहन कर प्राचीन रत्नों को नये रूप में रखना पड़ता था। इस प्रकार कविता स्फूर्ति का विषय न बन कर एक आवश्यकता का विषय हो गई थी। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उस समय के साहित्य का मूल स्रोत राजाओं को प्रसन्न करने की नीच प्रवृत्ति में ही था।

प्रत्येक चीज के अच्छे और बुरे दोनों ही पहलू होते हैं। भक्तिकाल में कविता की लहर आई थी। उस कविता के बहाव में अलङ्कार आदि स्वतः चले आते थे। संस्कृत भाषा में अलङ्कारों और काव्याङ्गों के ऊपर काफी विवेचन हो चुका था। संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हिन्दी में भी उन बातों का आना स्वाभाविक था। इसका सूत्रपात तो भक्तिकाल में ही हो गया था (सूर की साहित्य लहरी, नन्ददास की रसमंजरी और तुलसी की बरवै रामायण इसके प्रमाण हैं) किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ करना उनका मुख्य ध्येय न था।

लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही लक्षण-ग्रन्थ आते हैं। लक्ष्य ग्रन्थ बन चुके थे, लक्षण-ग्रन्थों का समय आ गया था और समयानुकूल साहित्य का इस ओर झुकाव होना एक नैसर्गिक घटना थी। हिन्दी के कवियों ने अलङ्कार ग्रन्थों का अध्ययन किया और स्वयं भी उनके आधार पर अपनी रचनाएँ कीं। लक्षण देने में तो नहीं परन्तु उदाहरण देने मे हिन्दी-कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी आगे बढ़ गये हैं।

संक्षेप में हम रीतिकाल के आविर्भाव के लिए निम्न कारणों को उत्तरदायी समझते हैं:—

१—भक्ति-काल की शृङ्गारिक कविता में से उसके जीवन का ह्रास हो, उसके आकार मात्र का रह जाना।

२—हिन्दी का राज-दरबारों में आश्रय पाना और आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने में कवियों की मौलिकता का ह्रास।

३—पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा आचार्यत्व प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा के कारण संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनका अनुकरण।

४—लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् लक्षण-ग्रन्थों के लिखे जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति।

५—राजाओं का मुसलमान सत्ता का स्वीकार कर लेना और विलास की मदिरा में आत्म ग्लानि को भुला देना। इस कारण कवियों की रचनाओं में शृङ्गार और विलास का प्राधान्य होना स्वाभाविक हो गया था।

६—जहाँगीर और शाहजहाँ के समय का भोला प्रेम काव्य में झलक उठा।

रीतिकाल की विशेषताएः—

१—साहित्य-निर्माण के साथ-साथ रस, अलङ्कार आदि काव्यांगों पर विवेचना हुई। रसों में विशेष कर शृङ्गार के आलम्बनों और उद्दीपनों के बड़े सरस उदाहरणों का निर्माण हुआ। ये लोग शृंगार रस को रसराज मानते थे। इसलिये उनको प्राधान्य देना स्वाभाविक ही था।

२—इस काल में शृंगार-रस के साथ कुछ वीर-रस की भी अच्छी कविता हुई।

३—इस काल में कवित्त और सवैयों की प्रधानता रही। कवित्तों का सम्बन्ध विशेष कर वीर-रस से रहा। सवैये शृंगार और करुणा दोनों में प्रयुक्त हुए। इस काल में बिहारी ने दोहों की सम्भावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया।

४—इस काल की भाषा व्रजभाषा और अवधी का मिश्रण थी। उसमें मुसलमानी दरबारों के प्रभाव से फारसी शब्दों की मात्रा बढ़ गई थी। भाषा

में सुकुमारता का अधिक परिचय मिलता था। कवियों में कला का प्रेम अधिक था।

५—इस काल में भाव पक्ष की अपेक्षा कला पक्ष का प्राधान्य रहा।

कुछ न्यूनताएँ:—

१—काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द की शक्ति पर यथोचित विवेचन न हो सका। पद्य में लिखने के कारण संस्कृत ग्रन्थों का सा सूक्ष्म विवेचन न हो सका। संस्कृत के आचार्य गद्य में टीकाएँ और वृत्तियाँ भी लिखते थे।

रीतिकालीन ग्रन्थों में अधिक गहराई न होने का एक कारण यह भी था कि वे पंडितों के लिए नहीं वरन् राजाओं और उनके दरबारियों के लिए लिखे गये। रीति ग्रन्थों का मूल उद्देश्य काव्य का विवेचन नहीं रह गया था वरन् शृंगारिक और अलङ्कारिक कविता के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना।

२—नाट्य शास्त्र के विवेचन का अभाव भी रहा। ये उस समय के आचार्यत्व में कमी की बात थी। हिन्दी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ भी न थे।

३—विषयों का संकोच-सा होगया था और कवियों में कवि परम्परा रूपी गाड़ी की लीक पर चलने की प्रवृत्ति हो गई थी। इसीलिए कवियों को भी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा दिखलाने की कम गुंजायश रही थी, जो कुछ कविता करते थे वे स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं वरन कवि कर्त्तव्य के कठोर बन्धन में बँधकर एक प्रकार की परम्परा की पूर्ति के लिए।

४—इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेक रूपता को अनेक काव्य में न ला सके तथापि इन्होंने शृङ्गार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँध कर उसमें सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की।

आचार्य केशवदास

रीतिकाल संवत् १७०० से माना जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि १७०० से पूर्व रीति-ग्रन्थ नहीं रचे गये। कुछ लोगों के मत से तो रीति-काल का उदय हिन्दी-साहित्य के जन्म के साथ ही हुआ है, क्योंकि

हिन्दी के प्रथम कवि पुष्य का ग्रन्थ रीति-शास्त्र (अलंकार) ही का ग्रन्थ था। सूर की 'साहित्य लहरी' में भी अलङ्कारों का वर्णन है। यद्यपि केशवदासजी के पूर्व कृपाराम, मोहनलाल तथा अकबरी दरबार के 'करनेस' आदि कई कवियों ने रस और अलंकार के ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं, तथापि साहित्य-शास्त्र की विधिवत् विवेचना कर हिन्दी में आचार्यत्व की स्थापना करने का श्रेय केशवदासजी को ही है। हिन्दी में रीतिकाल की परम्परा स्थापित करने वालों में केशवदासजी को ही प्रथम कवि माना जायगा।

आचार्य शुक्ल जी केशवदासजी को रीति-काल का प्रवर्तक नहीं मानते। उसका मुख्य कारण यह है कि केशवदासजी तथा चिन्तामणि और उनके अनुयायियों के साहित्यिक आदर्श भिन्न थे। केशव ने दण्डी और रुय्यक का आधार लेकर उस प्रारम्भिक अवस्था का प्रतिनिधित्व किया था जिसमें कि अलङ्कार्य (वर्ण्य विषय) और अलङ्कारादि का भेद न था। उन्होंने रस को भी अलङ्कार के अन्तर्गत माना था किन्तु उनकी कविप्रिया में अलङ्कार का अर्थ व्यापक था। उनके विशेष अलङ्कार ही आजकल के प्रचलित अलङ्कार हैं। इसके विपरीत चिन्तामणि और उनके पीछे के कवियों ने अलङ्कारों का वर्णन चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के आधार पर किया और रस सिद्धान्त में वे विश्वनाथ से प्रभावित हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि उन लोगों ने यद्यपि रस का विशद विवेचन तो नहीं किन्तु रस को अलङ्कारों के अन्तर्गत नहीं माना।

शुक्लजी का कथन है कि पीछे से रीतिकालीन कवियों ने केशव के आदर्शों को न अपनाकर चिन्तामणि त्रिपाठी के आदर्शों को अपनाया और दूसरी बात यह है कि केशव के पचास वर्ष बाद तक रीतिकालीन कवियों की परम्परा टूटी सी रही और चिन्तामणि के पश्चात यह अविच्छिन्न रूप से चली।

इन दोनों बातों को स्वीकार करते हुए यह कहना पड़ेगा कि हिन्दी के कवियों में रीतिकाल की आत्मा के साहित्यिक सिद्धान्तों का निरूपण और उनके उदाहरणों के स्वरूप काव्य की सृष्टि करना केशव के काव्य में पहली

चार दर्शन होते हैं। उनका काव्य सूर और तुलसी की भाँति भक्ति की प्रेरणा से नहीं रचा गया था वरन् आचार्यत्व के कर्तव्य पालन के निमित्त। आचार्यत्व के लिये यह बात गौण है कि किसने कौन सी परम्परा को अपनाया।

यद्यपि 'रामचन्द्रिका' के कारण और कुछ काल-विभाग के कारण केशवदासजी को प्राय: भक्तिकाल में ही स्थान दिया जाता है तथापि उन्हें रीतिकाल का प्रथम कवि कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'बिहारी-सतसई' की भाँति 'रामचन्द्रिका' भी एक प्रकार से अलङ्कारों का उदाहरण ग्रन्थ है। उसमें छन्द शास्त्र के भी उदाहरण मिलते है।

केशवदासजी का परिचय—आचार्य केशवदास सनाढ्य कुलोद्भव पं० काशीनाथ के पुत्र थे। ये 'धरणी तल धन्य' ओड़छा नगर के रहने वाले थे और 'नृपमणि' मधुकरशाह के पुत्र दूलहराय के भाई इन्द्रजीत के आश्रित थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ में बतलाई जाती है। ये संस्कृत के अच्छे पण्डित थे और आर्थिक चिन्ता न होने के कारण इन्हें अध्ययन के लिए समय भी यथेष्ट मिला होगा। संस्कृत का ज्ञान इनकी पैतृक सम्पत्ति थी। इनको इस बात का खेद था कि कुल की परम्परा के विरुद्ध इन्होंने हिन्दी में कविता की।* इनको इन्द्रजीत की ओर से बाईस ग्रामों की जागीर थी, अतः ये एक प्रकार से छोटे-मोटे राजा ही थे, देखिए—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै युग युग,
केशोदास जाके राज राज-सो करत है।

केशवदास के ग्रन्थ—रसिक प्रिया (सं० १६४८), इसमें रस-निरूपण विशेषकर शृंगार-रस और नायिका भेद है।

रामचन्द्रिका—(कार्तिक सुदी संवत् १६५८) यह ग्रन्थ प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखा गया है, किन्तु छन्दों में वैविध्य तथा अलङ्कारों की

---

* भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़ मति केशवदास॥

भरमार के कारण यह ग्रन्थ एक प्रकार से उदाहरण-ग्रन्थ-सा बन जाता है।

कविप्रिया—(फागुन सुदी पंचमी संवत् १६५२) इसमें कवि के वर्ण्य विषयों तथा अलङ्कारों का वर्णन है। यह एक प्रकार से कवि-शिक्षा का ग्रन्थ है।

विज्ञान गीता—(संवत् १६६७) यह ग्रन्थ 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' की रीति पर लिखा गया है। यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इनके दो ग्रन्थ और हैं 'जहाँगीर जश चन्द्रिका' और 'वीरसिंह देव चरित्र।'

काव्य की आलोचना—कविवर केशवदासजी हमारे सामने कवि और आचार्य दोनों ही रूपों में आते हैं। यद्यपि उनका आचार्य रूप प्रधान है तथापि उनका कवि का रूप भी उपेक्षा योग्य नहीं है। वे यदि सूर्य-चन्द्र की पदवी नहीं पाते तो न सही, किन्तु उडुगन प्रगखित होकर साहित्य-गगन के ज्योतिर्पिण्डों में अवश्य स्थान पाते हैं।

'रसिक प्रिया' यद्यपि लक्षण ग्रन्थ है तथापि उसमें मुक्तक काव्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। इनके बहुत से उदाहरणों में उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना की उड़ान का अच्छा परिचय मिलता है। इनके काव्य में हृदयपक्ष की न्यूनता और कलापक्ष का प्राधान्य है। काव्य में उत्कृष्टता लाने का जितने कृत्रिम साधन होते हैं वे इनमें पूर्णरूपेण वर्तमान हैं। मानव प्रकृति के अध्ययन की भी इनमें कमी नहीं है। राज-सेवा करते हुए भी इन्होंने अपने समय का दुरुपयोग नहीं किया। अपने स्वाध्याय और पाण्डित्य के ही कारण वे हिन्दी साहित्य में आचार्यत्व के पथ प्रदर्शक बने। रामचन्द्रिका के कथोपकथन बड़े सजीव और नाटकत्वपूर्ण हैं। एक ही छन्द में प्रश्न और उत्तर लाने में ये विशेष सफल हुए हैं। लव-कुश का निर्भय वार्त्तालाप बड़ा मनोहर है। 'कोप के भार में भुंजहु भरत्थहि' रौद्र-रस-प्रधान बड़ी ओजपूर्ण उक्ति है।

केशव में जात्याभिमान पूर्ण मात्रा में था, चाहे वह ब्राह्मण और विशेष कर सनाढ्य जाति में ही क्यों न सङ्कुचित हो। इन्हें अपने नगर से भी बहुत प्रेम था। विभीषण की दिल खोल कर बुराई करने से प्रकट होता है कि उनमें भक्ति-भावना की अपेक्षा जाति-प्रेम और स्वदेश की भावना बलवती थी।

मानव सम्बन्धों में जो कोमलता तुलसीदासजी ला सके, वह इनके काव्य में नहीं आ सकी। तुलसी की सीता श्री रामचन्द्रजी के चरण-चिन्हों को बचा कर चलती है:—

'प्रभु पद रेख बीच बिच सीता,
धरहिं चरन मग चलति समीता।
सिया-राम पद अङ्क बराये,
लषन चलहिं मग दाहिन बाँये॥

किन्तु केशव की सीता उन्हीं चरण-चिन्हों पर चलती हुई शीतलता का अनुभव करती है—

'मारग की रज तापित है अति,
केशव सीतहिं शीतल लागति।
ज्यों पद पङ्कज ऊपर पायनि,
दै जो चलै तेहि ते सुखदायनि॥

केशव की सीता प्रेम का परिचय अवश्य देती है, किन्तु तुलसीदासजी की सीता में जो आदर-भाव है वह उनमें एक दिव्य कोलमता प्रदान करता है।

यह बात नहीं है कि केशवदास जी वाणी में रस न हो, कहीं-कहीं तो उन्होंने बड़ी ही सरस रचना की है—

'मग को श्रम श्रीपति दूर करें,
सिय को शुभ बाकल-अञ्चल सों।
श्रम तेऊ हरें तिनको कहि केशव,
चञ्चल चारु दृगंचल सों॥'

परन्तु इसी के साथ अलंकार-प्रियता में पड़ कर कहीं-कहीं वे हास्यास्पद बन जाते हैं। सीताजी के मुख की कमल और चन्द्र से तुलना में व्यतिरेक का उदाहरण-सा उपस्थित करते हुए मुख के दिन और रात एक से रहने की उक्ति प्रसन्नता अवश्य देती है, किन्तु उसके साथ ही वे उत्साह के आवेश में ऐसी बात कह डालते हैं जो सत्य नहीं है—"देखे मुख भावै अनदेखे ही कमल चन्द" यह कमल और चन्द के प्रति अन्याय है।

बाह्य प्रकृति के वर्णन में केशवदासजी ने केवल कवि-कर्म ही का पालन किया मा'लूम होता है। यद्यपि उनकी 'कवि प्रिया' को पढ़ कर इस बात का सन्तोष होता है कि उन्होंने वन, उपवन, नदी, तड़ाग आदि को वर्ण्य विषयों में रख कर काव्य-क्षेत्र का विस्तार किया है तथापि वे स्वयं 'कवि प्रिया' के उदाहरणों में अथवा 'रामचन्द्रिका' के प्राकृतिक दृश्यों में सफल नहीं हो सके हैं। केशव की अलंकार-प्रियता, राजसी ठाट और राज्याश्रयता ने उनको बाह्य प्रकृति से उदासीन कर दिया है। प्रकृति से उनका सम्बन्ध पुस्तकों द्वारा ही हुआ था और इसलिए उनको राज दरबार से दूर प्रकृति की अपेक्षा शब्द-जाल अधिक आकर्षित कर सका। प्रकृति की गोद में पले हुए जीव का जो प्रकृति के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है, केशवदास में उसका सर्वथा अभाव सा दिखलायी पड़ता है। दण्डक वन में भी पहुँच कर राज-सेवा वृत्ति उनका पीछा नहीं छोड़ती—

शोभित दण्डक की रुचि बनी।
भाँतिन भाँतिन सुन्दर घनी॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै।
श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै॥
बेर भयानक सी अति लगै।
अर्क समूह जहाँ जगमगै॥

इसमें सेव, बेर के नाम मात्र आये हैं। अर्क, अकौआ और सूर्य दोनों को कहते हैं। इस शब्द-साम्य के आधार पर उस वन में द्वादश सूर्यों के होने के प्रलयकाल का सा भयानक समय (बेर) उपस्थित कर दिया है जब कि इसे चाहे श्लेष का चमत्कार कह लीजिए, किन्तु इसमें दण्डक वन की सुरम्यता नहीं दिखलाई देती। नाम यदि वस्तु का स्थान ले लें तो मिश्री कहने से ही मुंह मीठा हो जाय। "मन-मोदक नहिं भूख बुताई" जैसे-मन-मोदक में कल्पना का फिर भी आनन्द रहता है किन्तु नाम उल्लेख मात्र में कोई आनन्द नहीं रहता। तुलसी की भांति केशव भी राम से 'नाम' को अधिक महत्ता देते मालूम पड़ते हैं।

प्राकृतिक दृश्यों में आध्यात्मिक उपमाओं का ले आना प्राकृतिक दृश्यों के महत्व को कम कर देता है। आध्यात्मिक उपमानों तक तो कुशल है, किन्तु जब प्राकृतिक वस्तुओं के लिए 'जनु हेप कुपी घृत सौंध भरी' कहने लगते हैं तो जी ऊबने लगता है और मालूम पड़ता है कि सोने का मोह नहीं छूटा था। अच्छा होता यदि केशवदासजी इतना ही कह कर रह जाते—

'बहु चम्पक की कलिका हुलसी,
तिन पै अलि श्यामल ज्योति लसी।'

इसमें श्यामल ज्योति' बड़ी ही सुन्दर शब्द-योजना है। इनके प्राकृतिक दृश्य-वर्णन में बहुत-सी उत्प्रेक्षाएँ बड़ी सुन्दर हैं—

'पलास माल बिन पत्र विराजमान,
मानों बसन्त दिये कामहिं अग्निबान।'

* * *

'नर अन्ध भये दरसे तरु मौरे।
तिनके जनु लोचन हैं इकठौरे'॥

प्राकृतिक दृश्य स्वतः आनन्द के कारण होते हैं। अग्नि और गंगाजल की भाँति उनको दूसरे पदार्थों द्वारा पवित्र किये जाने की आशा नहीं रहती। भीम और अर्जुन वृक्षों की महत्ता पांडवों के नाम धारण करने से नहीं होती और न वे उन नामों के कारण 'पाण्डव की प्रतिमा सम लेखे' कहे जा सकते हैं। रामचन्द्रजी द्वारा पाण्डवों का उल्लेख काल-दूषण है जिसका शमन उनके त्रिकालज्ञ होने से भी नहीं होता क्योंकि उस समय वे नरलीला कर रहे थे और काव्य में हमें उन सीमाओं को स्वीकार करना पड़ता है। कुछ लोग श्री रामचन्द्रजी की वाटिका में लवङ्ग वृक्ष के वर्णन को देश-विरुद्ध दूषण कह दें किन्तु वह आलोचना का दुरुपयोग होगा। वाटिकाओं में सभी स्थानों के वृक्ष हो सकते हैं।

केशवदासजी अतिशयोक्तियों में अपनी कल्पना-शक्ति बहुत ऊँची उठा ले जाते हैं। श्री रामचन्द्रजी का चतुरङ्ग-चमू का वर्णन इसका उदाहरण है—

'राघव की चतुरंग चमू चय,
को गनै केशव राज समाजन।
सूर तुरंगन के उरमें पग,
तुंग पताकिन की पट साजन॥
टूट परैं तिनते मुकता,
धरनीं उपमा बरनी कविराजनि।
बिन्दु किधौं मुख फेनन के,
किधौं राजसिरी स्रवै मंगल लाजनि॥

इसको हम सत्य की अवहेलना नहीं कहेंगे, इसको हम कवि के हृदय का उत्साह ही ठहरायेंगे। भरतजी के घोड़ों की टाप से उठी हुई धूल के लिए जो केशवदासजी ने उत्प्रेक्षा की है वह भी अच्छी है—

'उठि के धरि धूर अकास चली
बहु चंचल बाजि खुरीन दली।
भुव हालति जान अकास हिए।
जनु थंभित ठौरनि ठौर किए॥'

वास्तव में 'रामचन्द्रिका' वर्णन-प्रधान ग्रन्थ है और उनके बहुत से वर्णन ऐसे हैं जो केवल कविकर्म पालनार्थ लाये गये हैं। 'कविप्रिया' में जिन बातों का वर्णन करना कवि के लिए आवश्यक बतलाया गया है, उन सबका वर्णन 'राम चन्द्रिका' में वर्तमान है। कवि परम्परा का पूर्णतया पालन किया गया है। नख-शिख का वर्णन भी आ गया है, चाहे वह दासी का ही क्यों न हो और चाहे सारिका द्वारा ही क्यों न किया गया हो। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि केशव ने सीता जी का नख-शिख वर्णन करना मर्यादा के विरुद्ध समझा, और दासी का वर्णन कर यह व्यंजित किया कि जहाँ की दासियाँ इतनी सुन्दर थीं, वहाँ की रानी का क्या कहना है? यह सब बात ठीक है, किन्तु राम के लिए दासी के नख-शिख वर्णन को सुनते रहना भी मर्यादा के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त यह केवल वर्णन के लिए ही प्रतीत होता है और अप्रासङ्गिक सा भी जान पड़ता है। पूरी 'रामचन्द्रिका' ही अलंकारों और

छन्दों की एक प्रदर्शिनी सी है। इसके छन्दों की सजावट मुक्तकों की सी है और यद्यपि वह प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखी गई है तथापि वस्तुओं के वर्णन का बाहुल्य ग्रन्थ के तारतम्य और प्रबन्ध सौष्ठव को नष्ट कर देता है। रामचन्द्रिका में जितना चमत्कार का ध्यान रक्खा गया है उतना प्रबन्ध-निर्वाह का नहीं। बिहारी सतसई की भाँति रामचन्द्रिका लक्षण-रहित उदाहरणों का रीति ग्रन्थ सा बन जाता है। स्फुट रूप से उसकी युक्तियाँ और वर्णन बहुत सुन्दर है।

आचार्यत्व—केशव के आचार्यत्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे रीतिग्रन्थ लिखने की शैली के प्रवर्तक हैं, और अलंकारों को प्रधानता देने वाले सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, 'भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त'। उन्होंने दण्डी-रुय्यक आदि अलंकारवादी आचार्यों का अनुकरण किया है। रस और ध्वनि को उन्होंने प्रधानता नहीं दी है, रसों को भी अलंकारों के ही अन्तर्गत लिखा है। 'कविप्रिया' में केशव ने सब वर्ण्य बिषयों को बतला कर कवि-कर्म को विस्तृत सा कर दिया है। कवि शिक्षा के लिए जो बातें आवश्यक हैं वे सब कविप्रिया में बतलाई गई हैं। रसों और भावों में प्रकट और प्रच्छन्न का भेद कर उन्होंने एक नवीनता उपस्थित करदी है। रसिक प्रिया में उन्होंने सब रसों को शृंगार रस के ही अन्तर्गत करने की कोशिश की है। इसी से वे और रसों के वर्णन में सफल नहीं हुए हैं।

भाषा—केशवदास की भाषा व्रजभाषा है, किन्तु उसमें श्लेषादि शब्दालङ्कार का प्राधान्य होने के कारण उनको संस्कृत शब्दावली का अधिक आश्रय लेना पड़ा है क्योंकि संस्कृत शब्दों में श्लेष के लिए अधिक क्षमता रहती है। उनकी भाषा में बुन्देलखण्डी शब्दों का आना स्वाभाविक ही है। केशव की भाषा में वह चलतापन और रसाद्रता नहीं है जो मतिराम में दिखलाई पड़ती है। उनके काव्य की क्लिष्टता के कारण ही यह लोकोक्ति चल पड़ी थी—

'दीवो न चाहे विदाई नरेस, तो पूछन केशव की कविताई।'

आचार्य केशवदास के काव्य में दोष अवश्य हैं और अपनी दुरूहता के

कारण वह अधिक लोक-प्रिय नहीं हो सका, तथापि लोक-मत ने जो उन्हें सूर और तुलसी के साथ उडुगणों में स्थान दिया है वह न्यायसंगत ही है।

चिन्तामणि त्रिपाठी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीति काल का प्रवर्तक मानते हैं क्योंकि इन्हीं के पश्चात् रीति-ग्रन्थों की अविरल धारा बहती रही। केशव और उनमें प्रायः ५० वर्ष का अन्तर था। इस समय के अन्तर के साथ कुछ साहित्यिक आदर्शों का भी अन्तर था। केशव ने दण्डी और रुय्यक का अनुकरण किया तो चिन्तामणि और उनके पीछे के कवियों ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का आधार लिया और रस को प्रधानता दी।

ये भूषण और मतिराम के भाई थे। इनके अतिरिक्त जटाशङ्कर नाम के एक और भाई बतलाये जाते हैं किन्तु साहित्य में उनकी कोई प्रसिद्धि नहीं है। ये तिकवांपुर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम था रत्नाकर त्रिपाठी। इनका जन्म संवत् १६६६ के निकट और कविताकाल सं० १७०० के लगभग बैठता है इन्होंने काव्य-विवेक, कवि-कुल-कल्पतरु और काव्य प्रकाश नाम के तीन ग्रन्थ लिखे हैं। छन्द-विचार नाम का इन्होंने एक पिंगल ग्रन्थ भी लिखा है। कहीं-कहीं इन्होंने अपना नाम मणिमाल भी लिखा है।

महाराजा जसवन्तसिंह

ये मेवाड़ के महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे और संवत् १६६५ में सिंहासनारूढ़ हुए। ये शाहजहाँ और औरङ्गजेब के बड़े विश्वासपात्र थे। कई महत्वपूर्ण लड़ाइयों में भी इन्हें भेजा गया था। संवत् १७३८ में इनका शरीरान्त काबुल में हुआ था जहाँ कि वे अफगानों को सर करने के लिए भेजे गये थे। अलंकार ग्रन्थों में इनका भाषा-भूषण बहुत प्रसिद्ध है। इसमें बहुत कुछ चन्द्रालोक की छाया मिलती है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण मिल जाते हैं जो विद्यार्थियों को सूत्ररूप से याद करने के लिये बहुत उपयोगी हैं। इन्होंने तत्वज्ञान सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं जैसे-अपरोक्ष

सिद्धान्त, सिद्धान्त बोध, सिद्धान्तसार और प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक।

उदाहरण—सार-अलंकार—

एक एक ते सरस जब अलङ्कार यह सार।
मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार॥

परिसंख्या अलङ्कार—

परिसंख्या इकथल बरजि दूजे थल ठहराइ।
नेह हानि हिय में नहीं भई दीप में जाय॥

बिहारी

जीवन वृत्त—इनका जन्म ग्वालियर राज्य के बसुआ गोविन्दपुर में बतलाया जाता है। ये जाति के माथुर ब्राह्मण (चतुर्वे०) थे। इनके वंशज बूँदी राज्य में अब भी वर्तमान हैं।

इनका जन्म स्थान संवत् १६६० में बतलाया जाता है। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के आश्रित थे, जिनकी प्रशंसा में इन्होंने दो चार दोहे लिखे हैं। इन्होंने संवत् १७१९ में अपनी प्रसिद्ध सतसई समाप्त की थी:—

'संवत् ग्रह शशि जलधि छिति, तिथि छठ बासर चन्द।
चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनन्द कन्द॥'

ग्रह = ९, शशि = १, जलधि = ७, छिति = १

अङ्कानां वामतो गतिः, अंक बाईं ओर को गिने जाते हैं, इस हिसाब से सतसई निर्माण समय १७१९ होता है।

इससे उस समय उनकी अवस्था ५९ वर्ष की बैठती है। इस दोहे से तथा महाराज जयसिंह के समय से जो कि संवत् १६७६ से १७२२ तक रहा कवि का जन्म १६६० में होना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इनकी मृत्यु १७१९ के दो चार वर्ष बाद हुई होगी। इनके पिता का नाम केशव था—

"प्रगट भये द्विजराजकुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरो हरो कलेश सब, केशो केसोराइ॥"

इस दोहे में कवि ने अपने पूज्य पिता की श्री कृष्ण से केशव नाम में तथा अन्य गुणों में समानता बता कर बन्दना की है। द्विजराजकुल (कृष्ण पक्ष में चन्द्र वंश और पिता के पक्ष में ब्राह्मण कुल। द्विजराज चन्द्रमा और ब्राह्मण दोनों को कहते हैं) में दोनों का जन्म हुआ। दोनों स्वेच्छा से ब्रज में बसे थे। केशवराय में राय शब्द के आ जाने के आधार पर आज कल ब्रह्म भट्ट लोग उनको अपना सजातीय बतलाते हैं। राय तो बहुत से अब्राह्मणों के नाम के आगे भी होता है। इनका बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीता था और जवानी मथुरा में बीती थी। इस सम्बन्ध में भी एक दोहा प्रचलित है—

'जन्म ग्वालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥'

बुन्देलखण्ड में बाल्यकाल व्यतीत करने की बात उपर्युक्त दोहे तथा उनकी कविता में 'लिखबी' 'गनिबी' 'देखिबी' 'लाने' 'बीघे' 'गुहारि' आदि बुन्देलखण्डी शब्दों के बाहुल्य के साथ आने से प्रमाणित होती है। काव्य-मर्मज्ञ पं० पद्मसिंह शर्मा इस मत से सहमत नहीं होते। उन्होंने देखिबी, जानिबी शब्दों को ब्रजभाषा का अपवाद नहीं माना। तुलसीदासजी की भाषा का उदाहरण जो दिया है वह तो इस बात की पुष्टि ही करता है, क्योंकि तुलसीदासजी तो राजापुर के निवासी होने के कारण (इसमें चाहे सन्देह भी हो किन्तु चित्रकूट में तो वे अवश्य रहे ही थे।) बुन्देलखण्डी थे ही। हाँ, सूरदासजी की बात जरूर मानने योग्य है किन्तु 'गनिबी' और 'देखिबी' के अतिरिक्त लाने आदि और भी ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द हैं जो बिहारी में मिलते हैं, सूर में नहीं। सूर ने एक-आध स्थान में पंजाबी शब्दों का भी व्यवहार किया है जो ब्रजभाषा के नहीं हो सकते। ग्वालियर से बुन्देलखण्ड जाना कुछ कठिन नहीं है। अस्तु ससुराल से अनादृत होकर वे जयपुर दरबार गये। ससुराल में आदर न पाने की बात निम्नलिखित दोहे से पुष्ट होती है—

'आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहिं जमाई लौं घट्यो, खरौ पूस दिन-मानु॥

जयपुर दरबार में उन्होंने निम्नलिखित एक दोहे से अपना प्रभाव जमा लिया था। महाराज जयसिंह अपनी नवेली रानी के प्रेम में ऐसे फँस गये थे कि उन्हें राजकाज की भी चिंता न थी। मन्त्री हैरान थे, तब बिहारी ने यह दोहा लिख भेजा—

'नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिध्यौ, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने अभीष्ट कार्य कर दिया। पढ़ते ही महाराज की आँखें खुल गईं। इस एक दोहे ने महाराज जयसिंह को अन्तःपुर के हास-विलास से बाहर निकाल कर राजकाज में प्रवृत्त कर दिया। इसको कहते हैं कान्ता का सा मधुर उपदेश। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' कवि ही कह सकते हैं।

राजा के आश्रित होते हुये भी ये महाकवि बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के थे। देखिये शाहजहाँ का पक्ष लेकर हिन्दुओं के खिलाफ लड़ने वाले अपने आश्रयदाता को बाज की अन्योक्ति द्वारा कैसी शिक्षा दी है :—

'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराये पानि पर तू पंछीहि न मारि॥'

कहा जाता है कि वायदा की हुई सात सौ अशर्फियाँ महाराज जयसिंह से इनको नहीं मिलीं। सम्भव है ऐसा हुआ हो। इन्होंने 'तुमहूँ कान्ह मनो भये आजकालि के दानि' के मृदु उपालम्भ के सिवाय कुछ भी नहीं कहा। इतना ही नहीं बल्कि जयसिंह की तारीफ ही की है—'भेट होत जयसाह सों भाग्य चाहियत भाल'। यह बड़े सन्तोषी, भगवद्भक्त और सौम्य स्वभाव के थे।

'कोऊ कोटिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, विपति-विदारन हार॥'

आचार्यत्व और कवित्व—यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि शृङ्गार सम्बन्धी जितने विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, हाव आदि हैं सतसई में उन सभी के उदाहरण मिलते हैं। साथ ही

उसमें लक्षणा, व्यंजनादि वृत्तियों के भी उदाहरण मिलते हैं। दोहे केवल दोहे ही नहीं हैं वरन् उनमें हमको कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और अलौकिक प्रतिभा का पता चलता है। एक-एक दोहे में सिनेमा के-से चित्र खिंच जाते हैं और भावों का तारतम्य-सा बँध जाता है। देखिये—

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनु हँसै, देन कहै नटि जाय॥"

'अज्यों तरयौना ही रह्यौ' आदि दोहों में तो अलंकार सम्बन्धी वाग्जाल अवश्य है किन्तु ऐसे अनेकों ही दोहे मिलेंगे जिनमें सजीव प्रेम छलकता हुआ दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार बिहारी में कवित्व और आचार्यत्व का अपूर्व मिश्रण है। बिहारी में कलापक्ष के साथ हृदयपक्ष भी था। यद्यपि उनका क्षेत्र संकुचित था तथापि उन्होंने उस क्षेत्र का पूर्ण पर्यवेक्षण किया था। केवल लक्षण लिखना ही आचार्यत्व का लक्षण हो तो बिहारी आचार्य न थे किन्तु यदि आचार्यत्व से शास्त्र-ज्ञान अभिप्रेत है तो उनमें उसकी कमी नहीं थी।

बिहारी का 'काइयाँपन'—मिश्रबन्धुओं ने बिहारी में 'काइयाँपन' बहुत बतलाया है। यदि काइयाँपन से चालाकी और निरीक्षण की सूक्ष्मता अभिप्रेत है तो उनकी सी 'पैनी दीठ' बहुत कम कवियों में है और यदि काइयाँपन से बदमाशी का मतलब है तो हम कहेंगे कि उनके कुछ दोहों में जैसे—'लरिका लेबे के मिसन' में 'लंगरपन' की झलक है। इन्होंने परकीया के जितने रूप और उससे मिलन के साधन उस समय के समाज में वर्तमान थे, सब के उदाहरण दिये हैं। एक दृष्टि से तो ऐसे दोहे तत्कालीन समाज के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देते हैं और दूसरी दृष्टि से उनकी रुचि पर प्रकाश डालते हैं। कवि के लिए हम यह नहीं कह सकते कि वह जो कुछ लिखता है निजी अनुभव से ही लिखता है। वह आप बीती न लिख कर जगबीती भी लिख सकता है। यदि राजदर्बार के वर्णन से कवि राजा नहीं हो जाता तो शृंगारिक वर्णन से वह विषयी नहीं हो जाता। यह अवश्य मानना होगा कि वे इतने विरागी न थे कि इन बातों के वर्णन से उन्हें अरुचि हो।

बिहारी की भाषा—बिहारी की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी इस प्रकार लिखते हैं—'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों ने शब्दों को तोड़ मरोड़ कर विकृत किया है। यह बात बहुतों में पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्दों का भी व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है।'

इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं के विचार उपर्युक्त विचारों से कुछ भिन्न हैं, देखिये:—

"इन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा है और उन्हें कहीं-कहीं बहुत ही बिगड़े हुए रूप में रक्खा है। यथा समर (स्मर), तुष्यो (तुष्यो), मोख (मोक्ष)" (ये शब्द प्राकृत के रूप हैं तोड़े हुए नहीं)

कुछ बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे है कि अधिक विशद भाव न होने पर भी दोहा चमचमा उठता है। जैसा वर्णन किया है उसी के अनुसार भाषा भी लिख कर उसका रूप खड़ा कर दिया है:—

"नहिं अन्हाइ नहि जाइ घर, चित चहुँट्यो तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति, बिहँसति धँसति न नीर॥"

—**बिहारी की बहुज्ञता**—ये महाकवि प्रभावशाली कवि तो थे ही इसके अतिरिक्त हर विषय के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। इन्होंने अपनी सतसई में प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। निम्नलिखित दोहे में ज्योतिष और राजनीति के ज्ञान का शृंगार में क्या ही अच्छा उपयोग किया है:—

"दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द।
अधिक अन्धेरो जग करत, मिलि मावस रवि चन्द॥

वय-सन्धि में शैशव और यौवन की दुअमली होती है, इसी से देखने वाले को वह अधिक पीड़ा का कारण बनती है। यह तो रही शृंगार की बात, किन्तु व्यवहार में दो अधिकारियों के हाथ की बात सदा दुःखदायिनी होती है। एक काम के लिए एक ही उत्तरदायी होना चाहिए। अमावस के दिन सूर्य और चन्द्र की एक राशि हो जाने से अन्धकार बढ़ जाता है।

बिहारी ने शृंगार में वैद्यक के ज्ञान को भी लगाया है। ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। विरह के विषम ताप से जलती हुई नायिका को बड़े ही सुन्दर श्लेष द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना की गयी है:—

"यह बिनसतु नगु राखि कै, जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइयै, आइ सुदरसनु देहु॥"

कवि को सांख्य और वेदान्त-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था:—

"जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाहिं॥"

सांख्य-शास्त्र (सांख्यतत्वकौमुदी) में बतलाया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म चीज, अति निकट वाली चीज जैसे आँख की स्याही और अति दूर की चीज, इत्यादि दिखायी नहीं पड़ती है, यहाँ पर उसी कारिका की झलक है। वेदान्त के कीट-भृङ्गी आदि दृष्टान्तों को भी कवि ने अपनाया है। वेदान्त के सिद्धान्तों का नीचे के सोरठे में बहुत उत्तम वर्णन है:—

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥"

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" जो वेदान्त का सार है, उसका सार इस दोहे में आ गया है।

ये महाकवि अपने समय के विज्ञान से भी परिचित थे। नल के पानी से उपमा देते हुए दो स्थानों पर इन्होंने बतलाया है कि पानी जितने ऊँचे से डाला जाता है उतना ही ऊपर चढ़ता है और फिर वह नीचे ही गिरता है। पानी अपने सतह तक पहुँचता है। इस सिद्धान्त को वे जानते थे और

इसका काव्यमय वर्णन भी उन्होंने अच्छा किया है:—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

* * * *

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल-बल जल ऊँचौ चढ़ै, अन्त नीच कौ नीच॥

इसके अतिरिक्त किबलनुमा, गेंद का उछलना गिरना आदि के वर्णन कवि की वैज्ञानिक रुचि का परिचय देते हैं—

सब ही तनु समुहाति छिनु, चलत सबनु दै पीठि।
वाही तन ठहरात यह, किबलनुमा लौं दीठि॥
नीच हिये हुलसे रहैं गहे गेंद के पोत।
ज्यौं-ज्यौं माथैं मारियत, त्यौं त्यौं ऊँचे होत॥

दो शीशों के बीच में जब कोई चीज रख दी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस सिद्धान्त को बहु-प्रतिबिम्ब (Multiple images) सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कर द्युति वर्णन में कवि ने बड़ा चमत्कार उत्पन्न किया है—

अङ्ग-अङ्ग प्रतिबिम्ब परि, दरपन से सब गात।
दुहरे तिहरे चौहरे, भूषन जाने जात॥

सम्भव है इस दोहे के लिखते समय आमेर के शीश-महल का मानसिक चित्र उनके सामने हो। उसमें शीशे के छोटे-छोटे टुकड़े लगे हुए हैं जिनमें एक-एक हाथ के सौ-सौ प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं।

बिहारी का शृङ्गार-वर्णन—बिहारी शृङ्गारी कवि हैं। उन्होंने शृंगार के दोनों ही पक्ष लिये हैं। संयोग और वियोग की सभी अवस्थाओं का अच्छा वर्णन किया है। वियोग में मरण का भी वर्णन बड़े चातुर्य के साथ किया है। हाँ, वियोग में कुछ अत्युक्तियाँ अवश्य हैं जो उपहास की मात्रा तक पहुँच जाती हैं। किसी नायिका को चन्द्र शीतल न लगे, यह बात समझ में आ जाती है किन्तु 'औंधाई सीसी' बीच में ही सूख जाय यह

बात अनुमान से बाहर हो जाती है। मानसिक अवस्था के कारण आन्तरिक अनुभूति में अन्तर पड़ सकता है। किन्तु बाह्य वस्तु की स्थिति में अन्तर नहीं पड़ सकता। यह दोष कहीं-कहीं जायसी आदि में भी आ गया है; हां, अतिशयोक्ति में कहने वाले के हृदय का उत्साह अवश्य प्रकट होता है। उसका साधारण बात कहने से सन्तोष नहीं होता। फिर भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत' की बात है।

संयोग-पक्ष बिहारी का अच्छा है। उसमें सजीवता और जीवन की उछल-कूद दिखलाई पड़ती है। गायों के मिल जाने से हृदय मिल जाने की बात में सूर की झलक आजाती है। उनके शृङ्गार-वर्णन की यह और विशेषता है कि उन्होंने आभूषणों को 'दर्पण के से मोरचे' अथवा, 'दृग-पग पौछनकों किए पायन्दाज' कह कर सौन्दर्य में बहुत ही गौण स्थान दिया है। वे नायिका के स्वाभाविक सौंदर्य पर अधिक भरोसा करते थे। बिहारी ने आश्रय के नेत्रों की विवशता का वर्णन कर सौन्दर्य के आकर्षण की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है।

बिहारी की अन्य विशेषताएँ—यद्यपि बिहारी शृङ्गारी कवि थे, शृङ्गार सम्बन्धी कोई प्रसङ्ग जैसे—नख-शिख, नायिका भेद, मान, प्रवास, हाव-भाव इत्यादि उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा है और इस वर्णन में स्थान-स्थान पर वे औचित्य की सीमा का भी उल्लंघन कर गये हैं, तथापि अन्य शृङ्गारी कवियों की भांति उनका वर्णन उतने में संकुचित नहीं हो जाता। वे सौन्दर्य का व्यापक रूप भी जानते थे। वे उसे नख-शिख में न भुला कर उनसे भिन्न एक विलक्षण पदार्थ मानते थे। नीचे भेदकातिशयोक्ति पूर्ण उक्ति देखिए—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने के कारण यह अलौकिक सौन्दर्य, चित्र की सीमा में वेष्टित नहीं हो सकता, इसीलिए इसके चित्रित करने में चतुर चितेरे भी कूर हो जाते हैं।

भाव-सुकुमारता में भी बिहारी अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। देखिए कैसा

कोमल भाव है ? हृदयस्थ नायक की शान्ति-भंग होने के भय से नायिका मान सम्बन्धी सिखावन सुनना नहीं चाहती। वह उसको शब्दों से नहीं मना करती वरन् नेत्रों के संकेत से काम लेती है:—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल ।
हरुये कहि मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल ॥

बिहारी ने जैसा मानवीय प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन किया है, वैसा विशद प्रकृति चित्रण नहीं किया है किन्तु वसन्त आदि के वर्णन अच्छे किये हैं। भाषा पर बिहारी को पूर्ण अधिकार है। मधुर रस के लिए उन्होंने माधुर्यमयी ब्रजभाषा का प्रयोग कर मणि-कांचन संयोग उपस्थित कर दिया है। शब्दों के चित्र से खिंच जाते हैं और हम शब्दों के बहाव में बहने लगते हैं, देखिए:—

सघन कुञ्ज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥

मिश्रबन्धुओं के अनुकूल बिहारी की कुछ विशेषताएँ—

(१) काव्याङ्गों के बड़े अच्छे उदाहरण दिये हैं।

(२) अतिशयोक्ति में कलम तोड़दी है।

(३) निरीक्षण व्यापक है। रङ्गों और उनके मिश्रण का अच्छा वर्णन किया है।

(४) शृङ्गारी कवि होते हुए भी भक्ति-सम्बन्धी दोहे भी लिखे हैं।

(५) कहीं-कहीं हास्य का अच्छा पुट दिया है। जैसे 'को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।' (वृषभानुजा के दो अर्थ हैं, वृषभानुकी लड़की और वृषभ = बैल की अनुजा = बहन। इसी प्रकार हल-धर के वीर के भी दो अर्थ होते। हल-धर का एक अर्थ है, बैल और दूसरा अर्थ है बलराम, युगल जोड़ी बैल से सम्बन्धित हो गई।

(६) कविता में कहीं-कहीं उर्दू ढंग भी है।

उपसंहार—

बिहारी ने दोहा सा प्रचलित छोटा छन्द चुन कर लाघव का गुण खूब

निभाया है, फ़िजूल भर्ती नहीं भरी। अन्य ब्रजभाषा कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा नहीं है। जहां तक हुआ शुद्ध रूप रक्खे हैं। यद्यपि गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, शृंगार सतसई आदि कई प्राकृत और हिन्दी की सतसई हैं तथापि पैनी दीठ, अनोखी सूझ, पद-लालित्य और शब्दों की अर्थव्यंजकता के कारण बिहारी-सतसई अद्वितीय है। यह सतसई शृङ्गार-रस का भी शृंगार है। अन्य सतसइयों के होते हुए भी सतसई कहने से इसी सतसई का बोध होता है। इसी के कारण कहा गया है—

सतसैया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

मतिराम

केशव, देव, पद्माकर आदि रीतिकाल के प्रधान कवियों के साथ इनकी गणना की जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ये चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। यद्यपि कुछ लोगों ने इसमें सन्देह प्रकट किया है तथापि बहुमत इस बात के पक्ष में है। इनका जन्म तिकवाँपुर में संवत् १६७४ के लगभग हुआ था। ये बूँदी के महाराज के बहुत काल तक आश्रित रहे और वहाँ 'ललितललाम' नामक अलङ्कार ग्रन्थ लिखा। इनका रस सम्बन्धी ग्रन्थ 'रसराज' बहुत प्रसिद्ध है। रस और अलङ्कार की शिक्षा के लिए इनके ये दोनों ग्रन्थ बड़े काम की चीज हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने साहित्य-सार, लक्षण-शृंगार और मतिराम-सतसई तीन ग्रन्थ और लिखे हैं।

कवित्व और आचार्यत्व—यद्यपि इनके लक्षण कहीं-कहीं दूषित हैं तथापि वे सरल और सुबोध हैं। बड़े छन्दों के अतिरिक्त दोहों से दिये हुए इनके लक्षण विशेष रूप से स्पष्ट और सुबोध हैं। इनके उदाहरण केवल उदाहरण ही नहीं हैं वरन् वे काव्य-रस से परिपूर्ण हैं। ये बिहारी की भाँति 'दूर की कौड़ी लाने' तथा वचनों की वक्रता में इतने निपुण नहीं जितने अपने वचनों की सरलता और स्वाभाविकता में। बिहारी की भाँति न तो इनकी नायिका के विरह के कारण लूएँ ही चलने लगती हैं और

न 'औंधाई सीसी' बीच में ही सूख जाती है। वे पाठक को किसी अलौकिक संसार में न लेजाकर इसी लौकिक संसार की भूमि में स्वर्गीय सौन्दर्य दिखाने का उद्योग करते हैं। जो बात उन्होंने अपनी नायिका के वर्णन में कही है:—

ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई।

वह इनके काव्य के लिए भी अक्षरशः सत्य है। कहीं-कहीं मतिराम ने बड़े फड़कते हुए भाव लिखे हैं और वे उनके सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देते हैं। इनके काव्य में अलङ्कारों का वृथाडम्बर नहीं है। वे रस के सहायक और परिपोषक मात्र हैं और उनकी कविता में अपने आप खिंचे हुए चले आते हैं।

भाषा—मतिराम की भाषा उनकी विशेषताओं में से है। रीतिकाल में ऐसी सुन्दर भाषा बहुत कम कवियों की पाई जाती है। इनकी भाषा में स्वाभाविकता की अपूर्व छटा मिलती है। मतिराम में प्रसाद और माधुर्य गुणों का प्राधान्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इन की भाषा शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है। केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिए अशक्त शब्दों की भर्ती नहीं की है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भाव-व्यञ्जना में ही प्रयुक्त हैं। रीति-ग्रन्थ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ चलती और स्वाभाविक भाषा पद्माकर की ही मिलती है। कहीं-कहीं वह अनुप्रास के जाल में जकड़ी हुई पाई जाती है। मिश्रबन्धुओं ने मतिराम की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलाई हैं:—

कुछ विशेषताएँ—

(१) मतिराम की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है जो बहुत ही उत्कृष्ट है। मधुर अक्षरों का प्रयोग मतिराम ने प्रायः सबसे अच्छा किया है।

(२) मतिराम ने मानुषी प्रकृति के अतिरिक्त सांसारिक प्रकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया परन्तु मानुषी प्रकृति का बड़ा विशद वर्णन किया है।

(३) मतिराम ने जैसे उत्कृष्ट कवित्त और सवैया कहे हैं वैसे वे दोहे बनाने में भी समर्थ हुए हैं।

(४) मतिराम की रचना में भाषा के अतिरिक्त अर्थ-गाम्भीर्य का बहुत

गुण है।

उदाहरण—

वेलिन सों लपटाइ रही है तमालन की अवली अतिकारी।
कोकिल केकी, कपोतन के कुल, केलि करैं अति आनँद भारी॥
सोच करैं जनि, होउ सुखी 'मतिराम' प्रवीन सबै नरनारी।
मंजुल बंजुल कुञ्जन में घन, पुंज सखी! ससुरारि तिहारी॥

*   *   *   *

कुन्दन कौ रँगु फीकौ लगै, झलकै अति अङ्गन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लखे मुसकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई॥

*   *   *   *

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति॥
लाल तिहारे संग में, खेलै खेल बलाय।
मूंदत मेरे नैन हौ, करन कपूर लगाय॥

उदाहरण में दिये पहले सवैये में माधुर्य गुण की पूरी-पूरी झलक मिलती है।

भूषण

आविर्भाव काल—अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य-शासनों की उदार नीति ने पराजित हिंदुओं की विरोध और वैमनस्य की ज्वाला को बहुत कुछ शान्त कर दिया था। हिंदू और मुसलमान दोनों मिल कर साहित्य, संगीत और कला की अभिवृद्धि में योग देने लग गये थे। किंतु औरङ्गजेब के कट्टरपन के कारण मन्दीभूत ज्वाला फिर उत्तेजित हो गयी। हिन्दू लोग अपनी थकावट को दूर कर चुके थे और विषम परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के कारण पहले की अपेक्षा उनमें पारस्परिक ईर्ष्या और

द्वेष की मात्रा कम रह गयी थी। जातीयता के भाव अंकुरित हो चले थे। मुसलमान शासन से परित्राण पाना ही वीरों का ध्येय हो गया था। जाग्रति के भाव चारों ओर फैले हुए थे। पंजाब में सिक्ख लोग अपने आत्म-बलिदान द्वारा, चिड़ियों द्वारा बाज के शिकार का दृश्य दिखला रहे थे। बुन्देलखण्ड केसरी महाराज छत्रसाल भी अपनी मातृभूमि के परित्राण में लगे हुये थे। छत्रपति शिवाजी ने समर्थ रामदासजी की दीक्षा में हिंदू राष्ट्र निर्माण का बीड़ा उठाया था—देश में एक नई चेतना उत्पन्न हो गई थी।

उस समय कुछ कवि शृंगारी परम्परा में पड़े हुए नायक नायिकाओं के हाव-विलास के चित्रण में मग्न थे। किंतु भूषण और लाल ऐसे कवियों का सहानुभूति पूर्ण हृदय देश की करुण पुकार से गुंजरित हो उठा और उनके हृदय से वीर रस की धारा बह चली। इन कवियों की वाणी में जातीयता के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। इन्होंने हिंदू गौरव को बढ़ाया और वीरों के हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न की।

कुछ लोग भूषण को भी चाटुकार भाटों की श्रेणी में रखते हैं किंतु शृंगार-प्रधान काल में वीर रस की कविता करना हृदय की स्वतन्त्रता का परिचायक है। भूषण यद्यपि राज्याश्रय में थे, तथापि उन्होंने विलासी राजाओं का आश्रय नहीं लिया। उन्होंने नर-काव्य किया किंतु उसके लिये सरस्वती देवी को पछताना न पड़ा होगा। उनकी स्तुति के विषय उसके पात्र और अधिकारी थे और इसीलिये उनके काव्य में शक्ति थी। अयोग्य की प्रशंसा में शक्ति नहीं आ पाती। ऐसे लोगों की हँसी फीकी हँसी होती है और उनकी स्तुति में खोखलापन रहता है। यद्यपि वर्तमान राष्ट्रीय दृष्टि से भूषण के कुछ छन्दों को हम अनुदार कहेंगे तथापि उस संघर्ष के समय में उदारता से काम लेना मनुष्य का काम न था, देवताओं का काम था और भूषण देवता न थे।

कवि-परिचय—जैसा पहले कहा जा चुका है ये वीर कवि मतिराम और चिन्तामणि के भाई थे। ये कानपुर तिकवांपुर के रहने वाले थे और जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

इनके जन्म-संवत् के सम्बंध में मत भेद है। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म संवत् १७३८ माना है और मिश्रबन्धुओं ने संवत् १६९२ बतलाया है।

दुज कनौज कुल कस्यपो, रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि-तनूजा तीर॥

चिटनीस और मीर गुलाम अली ने भी इन्हें मतिराम का भाई लिखा है। इनको चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र के यहाँ से कवि भूषण की उपाधि मिली थी और वह उसी नाम से प्रख्यात हो गये—

कुल सुलंकि चित्रकूटपति, साहस-सील-समुद्र।
कविभूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥

यद्यपि ये राज दरबारों में गये तथापि इनको अपनी चित्त-वृत्ति के अनुकूल शिवाजी और छत्रसाल ही मिले। ये साहूजी के दरबार में भी गये थे। छत्रसाल के दरबार में इनका बड़ा मान था। कहते हैं कि इनके बिदा होते समय महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी के नीचे कन्धा लगाया था, तभी उन्होंने लिखा है कि 'साहू को सराहौं के सराहौं छत्रसाल को,' कहीं-कहीं ऐसा भी पाठ है कि 'सिवा को बखानौं के बखानौं छत्रसाल को'। भूषण गये तो कई दरबारों में किन्तु उनका चित्त जैसा शिवाजी के यहाँ रमा वैसा और कहीं नहीं। एक सौ दो वर्ष की पूर्ण आयु में इनका स्वर्गवास हुआ।

पं० भागीरथप्रसादजी दीक्षित ने भूषण को मतिराम और चिन्तामणि के भाई होने में सन्देह प्रकट किया है। उन्होंने भूषण को शिवाजी का समकालीन भी नहीं माना है। उनका कथन है कि शिवाजी की मृत्यु, भूषण को रुद्रशाह के यहाँ से भूषण की पदवी प्राप्त होने से पूर्व सं० १७३७ में हो चुकी थी। भूषण की रुद्रशाह से भेंट १७५७ में हुई। शिवसिंह सेंगर की दी हुई जन्म-तिथि को प्रामाणिक मानते हुए दीक्षित जी कहते हैं कि शिवाजी की मृत्यु भूषण के जन्म से एक साल पहले हो गई थी, इसलिए समकालीन नहीं हो सकते। मिश्रबन्धुओं की दी हुई जन्म-तिथि मानने में यह कठिनाई नहीं आती। इस युक्ति में कुछ सार हो सकता है। भूषण का शिवाजी के समकालीन न होने की बात गवेषणा का विषय है और जब तक रुद्रशाह का

समय निश्चित् न हो कुछ नहीं कहा जा सकता। दीक्षितजी, भूषण की रुद्रशाह से भेंट १७५० के लगभग मानते हैं और मिश्रबन्धुओं का कहना है कि रुद्रशाह से भेंट १७२८ से पूर्व हुई होगी क्योंकि १७२८ में छत्रसाल ने उनका सब कुछ ले लिया था।

काव्य—इनकी तीन पुस्तकें प्रख्यात हैं—शिवराज भूषण, शिवा बावनी और छत्रसाल-दशक। शिवराज-भूषण अलङ्कार-ग्रन्थ है। इसमें रीतिकाल का प्रभाव है। 'भूषण-उल्लास', 'दूषण-उल्लास' और 'भूषण-हजारा' नाम के तीन ग्रन्थ और बतलाये जाते हैं। भूषण रीतिकाल के कवि अवश्य थे और उसके प्रमाण में अलंकार ग्रन्थ भी लिखे किन्तु अलंकार उनके साध्य न थे वरन वे उनके भावों के प्रकाशन के लिए साधन मात्र थे। उनके काव्य में उनके हृदय की उमङ्ग का परिचय मिलता है। जैसे देव और मतिराम के हृदय की उमङ्ग शृङ्गार-रस के रूप में प्रवाहित हुई थी उसी प्रकार भूषण के हृदय की हिलोर वीर-रस में उमड़ पड़ी थी।

भाषा—भूषण की भाषा तो ब्रजभाषा ही है। किन्तु उस महाकवि को अपनी वाणी का प्रचार सुदूर दक्षिण में करना था। इसलिए उसकी भाषा खिचड़ी हो गयी है। भूषण ने अपनी भाषा को सुलभ बनाने के लिए शुद्ध संस्कृत शब्दों के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों के मिलाने में भी संकोच नहीं किया है। 'जिनकी गरज सुने दिग्गज बेआब होत मद ही के आबगरकाब होत गिरि हैं', जङ्ग, उमराव, राह, मुलक, पील (फील अर्थात हाथी) आदि शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते है। किन्तु वे शब्द ब्रजभाषा के साथ घुल मिल गये हैं। सारी शब्द-योजना ओजमयी है। वीर-रस के अनुकूल शब्दों में भेरी-रव की विकट ध्वनि लक्षित होती है। भूषण ने लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग बहुतायत से किया है। भूषण की भाषा में कहीं-कहीं खड़ी बोली के आकारान्त की ओर झुकाव मालुम होता है। जैसे 'कैद किया, साथ का न कोई बीर गरजा, अफजल का काल आया सरजा'।

कुछ विशेषताएँ—

संक्षेप में भूषण की विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

१—इन्होंने वीररस की कविता की है और शिवाजी में चारों प्रकार का वीरत्व दिखलाया है।

२—इनकी वाणी में ओज-गुण की प्रधानता है किन्तु वह कुछ अव्यवस्थित-सा है। इसमें टवर्ग और मीलित अक्षर भी प्राचुर्य के साथ पाये जाते हैं।

३—इनको हिंदुत्व का पूर्ण अभिमान था।

४—इन्होंने काव्य के साथ-साथ इतिहास का अच्छा निर्वाह किया है।

५—इनके अलंकारों के लक्षण कुछ अस्पष्ट और दूषित से हैं।

कविता के उदाहरण—

छूटत कमान और गोली तीर बानन के
मुशकिल होत मुरचान हू की ओट में।
ताही समै सिवराज हाँकि मारि हल्ला कियौ,
दावा बाँधि परे हल्ला वीरबर जोट में।
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहैं,
किम्मत जहां लगि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूँछन कगूँरन पै पाव दै दै,
अरिमुख घाव दै दै, कूदि परे कोट में।

* * * *

साज चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल-फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।

कुलपति मिश्र

ये महाकवि बिहारी के भागनेय थे और इन्होंने अपने जन्म से आगरे को गौरवान्वित किया था। ये जाति के चौबे थे और इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। ये अपने मामा के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनका रस-सम्बन्धी ग्रन्थ रस-रहस्य बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर लिखा गया है। इसमें शब्द-शक्ति का भी निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का और पता चला है—

१—द्रोण पर्व, २—मुक्ति तरङ्गिणी, ३—नख-शिख, ४—संग्रह-सार, ५—गुण-रस रहस्य।

इन ग्रन्थों में दी हुई तिथियों के आधार पर इनका कविता-काल संवत् १६२८ और संवत् १७४३ के बीच में ठहरता है।

देव

जीवनवृत्त—ये इटावे के रहने वाले थे। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्य-कुब्ज ब्राह्मण माना है और आचार्य शुक्लजी ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहा है। भावविलास के हिसाब से इनका जन्म-संवत् १७३० में बैठता है। इनकी पुस्तकों से यह प्रतीत होता है कि ये कई राजा-रईसों के दरबार में रहे। इनकी चित्तवृत्ति कहीं एक जगह नहीं रमी। शायद इनको अपने मन के अनुकूल आश्रयदाता न मिला। अपने आश्रयदाताओं में ये भोगीलाल से जिनके लिए रसराज-विलास बनाया था अधिक प्रसन्न रहे दीखते हैं। यदि एक ही राजा के आश्रित होते तो शायद इनकी प्रतिभा इतनी सर्वतोमुखी न होती। पर्यटन से इनका ज्ञान व्यापक और विस्तृत हो गया। ये औरङ्गजेब के पुत्र आजमशाह के दरबार में भी रहे थे। वह हिन्दी का बड़ा प्रेमी था। उसको इन्होंने अपने अष्टयाम और भावविलास सुनाये। इन्होंने अपना सुखसागर-तरङ्ग नामक ग्रन्थ पिहानी के अकबर अलीखाँ को समर्पित किया था। उनका अन्तिम समय सं० १८२४ था। इससे प्रतीत होता है कि वे ९४ वर्ष से अधिक जिये।

ग्रन्थ—इनके ग्रन्थों की संख्या कुछ लोग ७२ कहते हैं और कुछ लोग ५२ बतलाते हैं। इनमें से भावविलास (सं० १७४६), अष्टयाम, भवानी-विलास, कुशलविलास, प्रेमचन्द्रिका, जाति-विलास, रसविलास, (संवत्-१७८३ में समाप्त हुआ) (सं० १७८३), शब्द रसायन, सुखसागर तरङ्ग (१८२४), नीतिशतक, सुजान-विनोद, राग-रत्नाकर, देव-चरित्र, सुन्दरी-सिंदूर (भारतेन्दु द्वारा किया हुआ देव काव्य का संग्रह ग्रन्थ), शिवाष्टक, प्रेमतरङ्ग देव-माया प्रपञ्च, देव-शतक, वृत्त-विलास, पावस-विलास, रसानन्दलहरी, प्रेम-दीपिका, सुमति-विनोद, राधिका-विलास, नखशिख-प्रेम-दर्शन ज्ञात हो चुके हैं। रसविलास और प्रेम-चन्द्रिका में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। शब्द-रसायन में आचार्यत्व, भाव-विलास में रीति-कथन, वृत्त-विलास में अन्योक्ति देव-माया-प्रपञ्च नाटक * में (प्रबोध चन्द्रोदय के ढङ्ग का) धर्म-विवेचन, देव-चरित्र में कृष्ण-कथा तथा अन्य ग्रन्थों में अन्य अनेकानेक विषय हैं।

इन ग्रन्थों से इनके मानसिक क्रम-विकास का भी थोड़ा पता चलता है। यौवन की तरङ्ग में इन्होंने खूब शृंगारिक कविता लिखी है। अन्त में इनका झुकाव ज्ञान और वेदान्त की ओर गया है। रीतिकाल के ग्रन्थकारों में शायद ही किसी कवि ने इतनी विस्तृत रचनायें की हों। रचनाबाहुल्य का यह कारण ज्ञात होता है कि इनके ग्रन्थों में एक-दूसरे ग्रन्थ से बहुत कुछ सामग्री लेकर दुहराई गई है।

कवित्व और आचार्यत्व—देव आचार्य और कवि दोनों ही रूप में हमारे सामने आते हैं। इन्होंने रीति-सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं और उनके काव्याङ्गों का अच्छा निरूपण किया है।

मिश्रबन्धुओं के मत से इन्होंने 'तात्पर्य-वृत्ति' और 'छल' संचारी को मान कर मौलिकता का परिचय दिया है। किंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं जान पड़ती। 'तात्पर्य-वृत्ति' संस्कृत के आचार्यों ने भी मानी है। रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा आचार्यत्व में ये बहुत बढ़े चढ़े हैं और यदि इनके

* इसके रचयिता दूसरे देव माने जाते हैं।

मुकाबिले के लिये कोई खड़ा हो सकता है तो वे केशवदास हैं। यह कहना कठिन है कि देव और केशवदास में आचार्यत्व की दृष्टि से कौन बड़े हैं। किंतु रीतिकाल के प्रवर्तक होने के कारण केशव का कार्य अधिक स्तुत्य है। केशव में पांडित्य अवश्य है पर उनमें देव की-सी स्पष्टता नहीं है। देव के उदाहरण निश्चय ही अधिक सरस हैं, प्रेम का विवेचन बहुत सुन्दर हैं। कवित्व की दृष्टि से चाहे वे बिहारी के बराबर कलाकार न ठहरें तथापि अनुभव का विस्तार और सूक्ष्म दृष्टि में वे बिहारी से बड़े हैं। उनकी सद्भावनायें कहीं-कहीं बड़ी मौलिक हैं। 'मधु की मखियाँ अँखियाँ भई मेरी' 'गोरो गोरो मुख आज ओरो-सो बिलानो जात' की उक्तियाँ बहुत सुन्दर हैं।

देव की कविता में पद-मैत्री तथा यमक और अनुप्रास मिलाने का चमत्कार अच्छा दिखलाया गया है। पदों के बीच में अनुप्रास मिलाने के लिये एक से शब्दों को लाना उनकी भाषा की एक विशेषता सी है। इसी कारण उन्होंने शब्दों को कहीं तोड़ा भी है। भाषा का सौंदर्य जो मतिराम में है वह देव में नहीं। देव की नायिकाओं की भाँति उनकी भाषा भी सालङ्कार है। उनकी भाषा में अलंकारों की झनझनाहट खूब सुनाई देती है। देव के कवित्व और भाषा के सम्बंध में आचार्य शुक्लजी का मत इस प्रकार है—

"कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उसके सम्यक स्फुरण में उनकी रुचि-विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे मजमून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच में उसका अंग भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में स्निग्ध-प्रवाह न आने का एक बड़ा कारण यह भी था। इनकी भाषा में रसाद्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय अधिक है और अर्थ बहुत अल्प।"

"अक्षर-मैत्री के हिसाब से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क-भड़क दिखाते थे और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकान्त और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं शब्दों को तोड़ते-मरोड़ते ही न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभि-

प्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह से हो पाया है, या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है वहां की रचना बहुत ही सरस हुई है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दूरारूढ़ है।"

मिश्रबन्धुओं के अनुकूल देवजी के काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

१—देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रची हैं।

२—इनकी कविता में चोरी बहुत कम है। अधिक निर्लज्जता भी नहीं पायी जाती।

३—देव की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है। (भाषा-साहत्य में देव और मतिराम इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। मिश्रबन्धुओं की राय में देवजी की भाषा मतिराम की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि इसमें अनुप्रास और यमक का अच्छा चमत्कार है)। इन्होंने प्रचलित लोकोक्तियों का अपनी कविता में बड़े मनोरम रूप से प्रयोग किया है। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, समाधि और उदारता नामक गुण देव की रचना में पाये जाते हैं।

४—देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत अच्छे किये हैं। किन्तु बाह्य-प्रकृति की ओर इनकी निगाह कम गई है।

५—इनकी कविता में अलङ्कार, गुण, लक्षणा, व्यञ्जना का चमत्कार अच्छा दिखलाई पड़ता है।

६—देव ने ऊंचे ख्यालात बहुत ही अधिक बाँधे हैं।

७—देवजी ने बहुत से चोज भी कहे हैं, जैसे—

जोगहू ते कठिन संजोग परनारी को।

देवजी की बहुज्ञता बहुत बढ़ी-चढ़ी है।

देव और विहारी—मिश्रबन्धुओं ने देव को सूर और तुलसी के पश्चात् स्थान दिया है। इसी कारण साहित्य में देव और विहारी सम्बन्धी

वाद उठ खड़ा हुआ था। पं० पद्मसिंह शर्मा ने और ला० भगवानदीनजी ने बिहारी का पक्ष लिया। इस सम्बन्ध में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की बहुत ही सुन्दर तुलनात्मक आलोचना लिखी है।

वास्तव में देव और बिहारी दोनों में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। विषय एक होते हुए भी देव ने श्रृङ्गार के आनन्द का बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उनकी अनुप्रासमयी भाषा पाठकों को आनन्द-लहरी में मग्न कर देती है। बिहारी के वियोग-शृंगार की पावक-ज्वाला पाठकों के कोमल हृदय को पिघला देती है। यद्यपि बिहारी की बिरह सम्बन्धिनी अत्युक्तियाँ कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गई हैं तथापि उनमें कल्पना की ऊंची उड़ान दिखाई देती है। 'आली बादत बिरह ज्यों पांचाली को चीर' 'कर ते मीजे कुसुम लों' आदि बड़े मार्मिक वर्णन हैं। देव के वियोग सम्बन्धी पद भी अच्छे हैं परन्तु संयोग-श्रृङ्गार का वर्णन उनकी विशेषताओं में से है। वियोग में देव का मान-वर्णन बहुत अच्छा है। 'बड़े बड़े नयनन ते आँसू भरि-भरि डारि, गोरो-गोरो मुख आज ओरो-सौ बिलानो जात' में थोड़ी अत्युक्ति होते हुए भी वह बहुत मनोहर है। बिहारी ने नख-शिख के अतिरिक्त व्यापक सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है। सौन्दर्य के वर्णन में बिहारी अलङ्कारों के पक्षपाती नहीं। बिहारी की कविता में 'आभूषणों का स्थान बहुत नीचा है। वे किसी कृत्रिम मण्डन को नहीं चाहते। अङ्गराग को भी वे आरसी पर के उसास की भाँति शरीर की द्युति को फीका करने वाला समझते हैं। जहाँ कहीं आभूषणों का वर्णन किया है वहाँ शरीर की शोभा के आगे उनका द्युति-हीन बतलाने के लिए। कहीं तो उनको 'दरपन के से मोरचा' कहा है और कहीं कह दिया है कि 'दृग पग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।' देव ने सालङ्कार नायिकाओं का वर्णन अधिक किया है। सौन्दर्य के आकर्षण को दोनों ही मानते हैं किन्तु बिहारी द्रष्टा की रुचि को भी स्थान देकर अधिक मनोवैज्ञानिक हो गये हैं। देव ने जो सौन्दर्य-सागर में डूबनेवाली आँखों का वर्णन किया है, वह बहुत ही सुन्दर है—

धार में जाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसी न उधेरी,
री ! अँगराइ गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहिं घेरी।
देव, कछू अपनो बसु ना, रस लालच लाल चितै भइ चेरी,
वेगि ही बूढ़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

देव ने शुद्ध प्रेम का भी बहुत उत्तम वर्णन किया है। उनका प्रेम का लक्षण बहुत बढ़िया है :—

सुख दुख में है एक सम तन मन वचन प्रतीत।
सहज बढ़ै हित चित नहीं; जहाँ सप्रेम सप्रीत॥

किन्तु इसी के साथ विषय जन्य प्रेम के वर्णन में भी वे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। बिहारीलाल ने भी प्रेम की तल्लीनता का अच्छा वर्णन किया है—

कीन्हे हूँ कोटिक जतन, अब कहि काढ़े कौन।
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी में को लौन॥

प्रकृति-पर्यवेक्षण की उड़ान तथा विचार की बारीकी में लोग बिहारी को बढ़ा हुआ मानते हैं। स्वयं मिश्रबन्धुओं ने भी इस बात को मानकर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया है। 'मानुषी प्रकृति' के सम्बन्ध की जितनी बातें इस महाकवि ने लिखी हैं और जितने चोज निकाल कर रक्खे हैं उनके आधे भी शायद हिन्दी भाषा का कोई अन्य कवि नहीं रख सका होगा। यद्यपि मानवीय प्रकृति के वर्णन के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि देव और बिहारी में कौन बढ़ा हुआ है, तथापि वाह्य प्रकृति के ज्ञान में बिहारी अवश्य बढ़े हुए दिखलाई देते हैं। कपूर मणि, नल में पानी उठना, किबलनुमा, रंगों के मिश्रण, ग्रहों के प्रभाव, आरसी पर के उसास का उल्लेख कर बिहारी ने अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यद्यपि देव ने बिहारी से अधिक पर्यटन किया था तथापि बिहारी के आश्रय-दाता देव के आश्रयदाता से कहीं बड़े थे और उनको संसार संबन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अच्छा अवसर मिला था। बिहारी ने उस अवसर से पूर्ण लाभ उठाया था। वास्तव में इस महाकवि के सम्बन्ध में कहे हुए मिश्रबन्धुओं के यह वचन कि 'जाकी पैनी दीठि की, मिलत न कहूँ मिसाल' बिलकुल ठीक

है। देव ने इस कमी को अपने आचार्यत्व और काव्यांगों के वर्णन में पूरा किया है। देव का काव्यांग-वर्णन इतना अच्छा है कि रीतिकाल का कोई भी कवि उनकी बराबरी मुश्किल से ही कर सकेगा। केशव और मतिराम उनके मुकाबिले में अवश्य खड़े हो सकते हैं। केशव का आचार्यत्व सर्वमान्य है किंतु उनके उदाहरण इतने सुन्दर नहीं हैं। मतिराम की भाषा और उदाहरण अच्छे हैं किंतु वे आचार्यत्व में देव को नहीं पाते। बिहारी ने यद्यपि लक्षण नहीं लिखे तथापि उन्होंने भावों के भेद और उदाहरण इतने सुन्दर लिखे हैं कि यदि वे क्रम लगाकर लक्षण भी लिख देते तो उनका बहुत सुन्दर रीति-ग्रन्थ बन जाता। तब भी वे आचार्यत्व में देव की बराबरी नहीं कर सकते। अलंकार-विधान में दोनों ही आचार्य बढ़े चढ़े हैं, किंतु इसमें इन दोनों कवियों की विशेषताएं हैं। देव उपमा और स्वाभावोक्ति में बढ़े हुये हैं, बिहारी ने अत्युक्तियों का अच्छा चमत्कार दिखलाया है। बिहारी ने नाक, कान, तरयौना, मुकुन आदि शब्दों के श्लेष से बहुत लाभ उठाया है, किन्तु आजकल इस शब्द जाल में लोग बहुत कम फँसते हैं।

देव ने भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य आदि आध्यात्मिक विषयों का अच्छा वर्णन किया है। बिहारी ने जो आध्यात्मिक विषयों की बानगी दी है, वह भी बहुत सुन्दर है, भाषा के सम्बंध में दोनों ही कवियों ने बड़ी सुंदर पदावली की योजना की है।

वास्तव में इन दोनों महाकवियों के गुण इनके छन्द के चुनाव पर भी निर्भर हैं। देव ने अपने विचारों की व्यञ्जना के लिये घनाक्षरी और सवैये चुने हैं और बिहारी ने दोहा चुना है। दोनों ही छंदों की पृथक-पृथक विशेषतायें हैं। बड़े छंद में भावों के पूर्ण विकास की गुञ्जाइश रहती है और मन पर जो प्रभाव पड़ता है वह भी कुछ देर तक ठहरता है।

वास्तव में दोनों महाकवि हिंदी भाषा साहित्य के शृंगार हैं। देवताओं में से किसको छोटा कहा जाय और किसको बड़ा। पं० कृष्णबिहारी मिश्र के शब्दों में यही कहते बनता है कि बिहारीलाल की कविता यदि जुही या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल का फूल। दोनों में सुवास

है। भिन्न-भिन्न लोग भिन्न भिन्न सुगन्ध के प्रेमी हैं।

कविता के कुछ नमूने—

१

ऐसौ जु हौं जानतौ कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आज लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुन,
प्रेम सों निहारि हेरि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो चित्त चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौं बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो॥

२

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
सुनि-सुनि कोरि-कोरि भाविनि भरति है।
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनन्द घरी-सी उघरति है॥
'देव' कर जोर-जोर बन्दत सुरन, गुरु—
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति है।
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है॥

द्वितीय विभावना का उदाहरण—

राखत है जग को परदा कहुँ आप सजे दिग अम्बर राखै।
माँग विभूति भंडार भरो पै भरै गृह दास के जो अभिलाखै॥
छाँह करै सिगरे जग को निज छाँह को चाहत है बर साखैं।
वाहन है बरदाइक पै बरदायक बाजी औ वारन लाखैं॥

यहाँ अपूर्ण कारण से कार्य की सिद्धि दिखाई गई है।

भिखारीदास

ये जाति के श्रीवास्तव कायस्त थे और इनका निवास स्थान प्रतापगढ़ के पास व्योंगा ग्राम था। इनका काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का और पता चलता है—

रस-सारांश, छन्दार्णव-पिंगल, शृङ्गार-निर्णय, नामप्रकाश, विष्णुपुराण-भाषा, छन्द प्रकाश, शतरंज-शतिका और अमर प्रकाश।

इनका कविता-काल संवत् १७८५ से संवत् १८०७ तक माना जा सकता है। इन्होंने अपने काव्य निर्णय में प्रायः सभी काव्याङ्गों पर विवेचन किया है। इसमें काव्य के गुण और शब्द की शक्ति आदि अङ्गों पर भी विचार किया गया है। इनकी भाषा साहित्यिक और परिमार्जित है। दासजी ने शब्दाडम्बर और भाषा-चमत्कार की ओर कम ध्यान दिया है। काव्याङ्गों के निरूपण में इन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। अपने विषय का प्रतिपादन और भावों का प्रकाशन ही इनका मुख्य ध्येय है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इनकी कविता नीरस है। दासजी की गणना उच्चकोटि के कवियों में है।

तोषनिधि

इनका निवास-स्थान शृंगवेरपुर था और इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था। इनका 'सुधानिधि' नामक रस भेद और भाव-भेद सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसकी रचना संवत् १७९१ में हुई। विनयशतक और नख-शिख नाम के दो ग्रन्थों का पता चलता है। इनके लक्षण सुलभ और शास्त्र-सम्मत हैं और उदाहरण बड़े सरस और हृदयग्राही हैं।

रसलीन

ये एक मुसलमान कवि हैं जिनका पूरा नाम सैयद गुलाम नबी था। इनका अङ्गदर्पण नाम का ग्रन्थ संवत् १७९४ में लिखा गया था। ये सूक्तियों के चमत्कार के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं। 'अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार' वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं का है।

दूलह

ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनका रचना काल संवत् १८०० से १८२५ के लगभग माना जाता है। कवि-कुल-कण्ठाभरण इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कवित्त और सवैयों में है। इन्होंने एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण दिये हैं। इनका अलङ्कारों का विवेचन बड़ा स्पष्ट और सुबोध है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—'और बराती सकल कवि, दूलह दूलह राय'

उदाहरण स्वरूप दूलह का दिया हुआ व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण देखिये।

व्यतिरेक (त्रिविधि)—

उपमेय उपमान तें विशेष व्यतिरेक,
सो अधिक न्यून सम त्रिविध बखानो है।
कहैं कवि दूलह निहारे चकचौंधी लागै,
कुन्दन सो रूप पै सुगन्ध सरसानो है॥
सुन्दर सरस सुकुमार मुख कमल-सो,
रवि को उदोत होत ही में कुम्हलानो है।
घनस्याम ही मे बसै जगर-मगर होति,
दामिनी औ कामिनी कहेई भेद जानों है॥

बेनी बन्दीजन

ये बेंती जिला रायबरेली के रहने वाले थे और अवध के प्रसिद्ध वजीर टिकैतराय के आश्रय में रहते थे। ये हिन्दी के हास्य और व्यंग्य लेखकों में बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने सूमों की कड़ी खबर ली है। पाठकों के विनोदार्थ एक उदाहरण दिया जाता है:—

आध पाव तेल में तयारी भई रोशनी की,
आध पाव रूई में पोशाक भई बर की।

आध पाव छाले के गिनौरा दियो माइन को,
माँगि-माँगि लायो है पराई चीज घर की ॥
आधी-आधी जोरि बेनी कवि की बिदाई कीनी,
व्याहि आयो जब तें न बोले बात थिर की ।
देखि-देखि कागद तबियत सुमादी भई,
सादी काह भई बरबादी भई घर की ।

बेनी प्रवीन

ये लखनऊ के रहने वाले बाजपेई ब्राह्मण थे । इनका 'नवरस-तरङ्ग' नाम का ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है और अब वह प्रकाशित भी होगया है । यद्यपि पुस्तक का नाम 'नवरस-तरङ्ग' है तथापि इसमें विशेषकर शृंगार और नायका भेद का ही वर्णन है । अन्य रसों का वर्णन बहुत ही संक्षेप में है । ऋतुओं का वर्णन परम्परा के अनुसार उद्दीपन विभाव के रूप में है और उसमें तत्कालीन ऐश्वर्यवान लोगों की भोग विलास की सामग्री का चित्रण अच्छा है । भाषा पर इनको बहुत अच्छा अधिकार था । इनकी व्रजभाषा मतिराम और पद्माकर के टक्कर की है । इनके सवैये बड़े चुभते हुए हैं ।

पद्माकर

ये बाँदे के रहने वाले तैलङ्ग ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था । ये पन्ना के महाराज हिन्दू पति के गुरु थे । इनका जन्म संवत् १८१० में हुआ और ८० वर्ष की आयु में इनका स्वर्गवास हुआ । कई राज-दरबारों में इनका बहुत मान था । रस के विद्यार्थियों में इनका 'जगद्विनोद' बहुत प्रसिद्ध है । यद्यपि इनको मिश्र बन्धुओं के नवरत्न में स्थान नहीं मिला तथापि आचार्य शुक्ल जी के मत से रीतिपरम्परा के ये परमोत्कृष्ट कवि हैं । पद्माकरजी के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत इस प्रकार है—"लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं-कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्तिमान कर देते हैं कि सुनने वाले का हृदय आप से आप हामी भरता है । यह लाक्षणिकता भी इनकी बड़ी विशेषता है ।"

जगद्विनोद के अतिरिक्त इनके आठ और ग्रन्थ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—हिम्मत बहादुर-विरुदावली, पद्माभरण, जयसिंह विरुदावली, अलीजाह प्रकाश, हितोपदेश, रामरसायन, प्रबोध-पचासा और गंगालहरी।

पद्माकर ने वीररस की भी कविता की है किन्तु वे उसमें उतने सफल नहीं हुए हैं जितने कि शृंगार-रस की कविता में। इनकी रचनात्मक कविताओं में अनुप्रासों का प्राचुर्य पाया जाता है जो कहीं-कहीं अरुचिकर हो जाता है। इनकी कविता के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलान किलकंत है।
कहै पद्माकर परागन में पौन हू में,
पानन में पीक में पलासन पगंत है॥
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप दीपन में दीपति दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में वेलिन में,
बनन में बागन में बगर्यो बसंत है॥

* * * *

ताखन पै ताल पै तमालन पै मालन पै,
वृन्दावन बीथिन बहार बंसीवट पै।
कहै पद्माकर अखंड रासमंडल पै,
मंडित उमड़ि महा कालिन्दी के तट पै॥
छिति पर छान पर छातन छतान पर;
ललित लतान पर लाडिली के लट पै।
आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि,
पाई छवि आज ही कन्हाई के मुकट पै॥

ग्वाल

ये मथुरा के रहने वाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके पिता का नाम सेवाराम था।

इनके ऊपर रीतिकाल का प्रभाव पूरी तौर से था। इन्होंने सब ऋतुओं का वर्णन किया है, उन्हीं के साथ तत्कालीन विलास वैभव का भी अच्छा चित्रण है। देखिए:—

जेठ को न त्रास जाके पास ये विलास होंय,
खस के मवास पै गुलाब उछरयो करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के बरक भरे,
पेठे पाग केवरे में बरफ परयो करै॥
ग्वाल कवि चन्दन चहल में कपूर चूर,
चंदन अतर तर बसन खरयो करै।
कंज मुखी कंज नैनी कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी करकंजते करयो करै॥

इन्होंने रसिकानन्द, रसरंग, कृष्ण जू का नख-शिख और दूषण-दर्पण नाम के चार ग्रन्थ लिखे हैं। और भी कई छोटे छोटे ग्रन्थ जैसे गोपी पचीसी, रामाष्टक कृष्णाष्टक इन्होंने लिखे हैं। साधारण जनता में इनकी कविता का प्रचार अच्छा है। आगरा नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में इनके कुछ और ग्रन्थ भी मिले हैं।

रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल संवत् १७०० से १६०० तक है। इस बीच में होने वाले सभी कवियों ने रीति-ग्रन्थ नहीं लिखे। कुछ लोगों ने रीति-ग्रन्थों की परम्परा में न पड़ कर श्रृङ्गार, वीर, भक्ति आदि रसों की कविता की है। इनमें से कुछ लोग तो ऐसे हैं ('घनानन्द', 'नागरीदास', श्री 'वृन्दावन चाचा') जिनका नाम भक्तिकाल के कवियों के साथ ही उल्लेख होना चाहिये। इस काल के कुछ कवियों ने प्रबन्ध-काव्य तथा स्फुट लीलाओं से सम्बन्ध रखनेवाले 'दान-लीला', 'मानलीला', 'जल-विहार' आदि वर्णनात्मक प्रबन्ध भी लिखे हैं।

इस काल से नीति, ज्ञान, भक्ति, वीरगाथा आदि सभी विषयों के सम्बन्ध में काव्य लिखा गया है।

सबलसिंह चौहान

इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहा चौपाइयों में लिखी है। इनका महाभारत संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच में पूरा हुआ था। इनकी भाषा बहुत सरल और सुबोध है। साधारण श्रेणी के लोग इनकी कविता से लाभ उठा सकते हैं।

वृन्द

ये मेंड़ते के रहने वाले थे और कृष्णगढ़ नरेश महाराजा राजसिंह के गुरू थे। इनकी 'वृन्द सतसई' जो संवत् १७६१ में लिखी गयी थी, लोक नीति सम्बंधी दोहों के कारण बहुत प्रसिद्ध है।

वैताल

ये जाति के बन्दीजन थे। शिवसिंह सरोज में इनका जन्म संवत् १७३४ में बतलाया गया है। इन्होंने गिरधर के समान कुंडलियाँ लिखी हैं और ये विक्रम को (वैताल कहैं विक्रम सुनो) सम्बोधित हैं।

आलम

ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम-पाश में फँस कर मुसलमान हो गये थे। इनका कविता काल संवत् १७४० से सं० १७६० तक माना जाता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलम केलि' के नाम से निकला है। 'माधवानल काम-कन्दला' नाम की इन्होंने एक प्रेम कहानी भी लिखी है। इनकी स्त्री शेख बड़ी चतुर और वाक्पटु थी। इन्होंने उर्दू भाषा में भी कवित्त लिखे हैं। इनकी कविता किसी परम्परा के अनुकरण में न होने के कारण सच्चे हृदय की अनुभूति का परिचय देती है।

गुरु गोविन्दसिंह

ये सिक्खों के दशम और अन्तिम गुरु थे। पूर्ण सिपाही होते हुए भी ये बड़े साहित्य प्रेमी थे। यद्यपि सिख सम्प्रदाय में निर्गुण भक्ति का प्राधान्य है तथापि इन्होंने अपने 'चण्डी-चरित' आदि ग्रन्थों में सगुणोपासना की भावना प्रकट की है। चण्डी चरित की रचना बड़ी ओजपूर्ण है। ये पंजाबी होते हुए भी बड़ी साहित्यिक व्रजभाषा लिखते थे। 'सुमति-प्रकाश' 'सर्वलोह प्रकाश' 'प्रेम सुमार्ग' और 'बुद्धि-सागर' इनके अन्य ग्रन्थ हैं।

लाल कवि

जिस प्रकार भूषण ने शिवाजी के सम्बंध में वीर काव्य रचा, उसी प्रकार लाल कवि ने बुन्देलखण्ड केसरी महाराज छत्रसाल की गुणावली का गान किया है। इनका पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था। इनके पूर्वज आन्ध्र देश के रहने वाले थे और जाति के भट्ट उपाधिकारी तैलङ्ग ब्राह्मण थे। महाराज छत्रसाल सम्बंधी इनके दस ग्रन्थ कहे जाते हैं। उनमें छत्रसाल-प्रकाश सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इनका यह 'छत्रसाल-प्रकाश' काव्य ग्रंथ होते हुए भी पूर्णतया ऐतिहासिक है। इसमें वर्णित घटनाएँ इतिहास के अनुकूल हैं। इनका काव्य बड़ा ओजपूर्ण है और प्रबंध काव्य की दृष्टि से भी बहुत अच्छा है। वाक्वैचित्र्य और काव्य की कलाबाजियों से ये बहुत दूर रहे हैं, किंतु इनकी भाषा में स्वाभाविक ओज है और इस कारण वह बड़ी हृदयग्राहिणी है। इनके युद्ध के वर्णन बड़े सजीव हैं। इनके वर्णन में जीवन के व्यापक सिद्धान्तों का भी अच्छा समावेश हुआ है। इन्होंने अपनी कविता दोहा-चौपाइयों में लिखी है। इनकी कविता के उदाहरण में कुछ चौपाइयाँ नीचे दी जाती हैं :—

तिहूँ लोक चँपति जस जागयो। सुनि-सुनि को न हिये अनुरागयो॥
नृपति पहार करी जे घातैं। ते प्रगटी कहिवे को वातैं॥
जग में करो जे क्रतु माने। नीकी करी लटी उर आने॥
तिनके थल जे बने बनाये। नृपति पहार सिंह ते पाये॥

सदा न जग में जीवै कोई। जस अपजस कहिबे कौ होई॥

गिरधर कविराय

इनका जन्म संवत् १७७० माना गया है। ये बहुत लोकप्रिय कवि हैं और इनकी नीति सम्बन्धी कुण्डलियाँ बहुत प्रख्यात हैं। इनको संसार का अच्छा अनुभव था। इनकी कुण्डलियों में काव्य की मात्रा कम है और तथ्य कथन की मात्रा अधिक है।

सूदन

ये मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे और भरतपुर के महाराज सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता का चरित्र अपने 'सुजान-चरित' में बड़ी अच्छी तरह से वर्णन किया है। यह वीर-रसात्मक ग्रन्थ है और इसमें महाराज सूरजमल की लड़ाइयों का बड़ा विशद वर्णन है। भूषण की भाँति इनकी कविता में ओजवर्धक टवर्ग और द्वित्तवर्णों का अधिक प्रयोग हुआ है। इन्होंने ध्वन्यात्मक फड़कत, कड़कत आदि शब्दों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। नाम गिनाने की भी प्रवृति इनमें अधिक है। इन्होंने अपनी कविता में भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषा का अच्छा प्रयोग किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

बजी चारिहू ओर तें टाप बाजी। मनो मेह आषाढ़ की बूँद गाजी॥
पुकारैं दुहूँ ओर के वीर हाँ हाँ। करी भौंह बाँकी चढ़ाई सु बाहाँ॥
छुटी बान कम्मान दम्मान भारी। कितूँ भाल भाले बरच्छी सँभारी॥
इतै जट्ट जुट्टे उतै साहि सैना। मिले जुद्ध कौ उद्ध कें क्रुद्ध नैना॥
कहूँ चाप टंकार हुँकार पारी। कहूँ धूक बन्दूक में ज्वाल भारी॥

* * * *

टुटे सार सन्नाह झन्नाहटे सौं। परे छूटि के भूमि खन्नाहटे सौं॥
भुसंडीन फुट्टे मही पिट्ठि लुट्टे। छुरी बाढ़ हुट्टे परों फेरि जुट्टे॥

बोधा

ये राजापुर के रहने वाले सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८०४ में बतलाया जाता है। 'विरह वारीश' और 'इश्कनामा' इनके दो ग्रन्थ हैं। पन्ना दरबार की सुभान नामक वेश्या के विरह से इनका 'विरह -वारीश' लिखा गया है।

सम्मन

इनका जन्म संवत् १८३४ में हुआ था। ये मल्लावाँ जिला हरदोई के रहने वाले और जाति के ब्राह्मण थे। इनके नीति के दोहे गिरधर की कुण्डलियों की भाँति बहुत लोकप्रिय हैं।

दीनदयाल गिरि

ये जाति के गुसाईं थे। इनका जन्म संवत् १८५६ वि० में काशी नगर में हुआ था। बाबू हरिश्चन्द्रजी के पिता गोपालचन्द्रजी से इनका बड़ा मेल था। ये संस्कृत भी जानते थे। इनका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी-साहित्य में अनूठी चीज है। 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' के अतिरिक्त इनकी निम्नलिखित पुस्तकें और मिलती हैं—अनुराग बाग (सं० १८८८), वैराग्य दिनेश (सं० १९०६), विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टान्त तरङ्गिणी (सं० १८७९) ये अपनी अन्योक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ अन्योक्तियाँ रहस्यात्मक भी हैं।

ठाकुर

ठाकुर नाम के तीन कवि हुए हैं। दो असनी के और तीसरे बुन्देलखण्डी। तीसरे ठाकुर कवि ने बड़ी ख्याति पायी। इन ठाकुर का जन्म सं० १८२३ में ओड़छा में हुआ था और ये जाति के कायस्थ थे। ठाकुर कवि का पूरा नाम ठाकुरदास था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ये जैतपुर नरेश के दरबार में जा रहे। जहाँ इनका बड़ा नाम हुआ। कभी-कभी इनकी पद्माकर से अच्छी नोंक-झोंक हो जाया करती थी। इनका परलोक वास सं० १८८० वि० के लगभग हुआ। ये प्रकृति के बड़े स्वतन्त्र और देश

प्रेमी थे। इनकी कविता बड़ी सरल और स्वाभाविक होती थी। इन्होंने अपनी कविता में लोकोक्तियों का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है। इनके सवैये बड़े लोक-प्रिय हैं। इन्होंने जनता की रुचि के अनुकूल बसन्त, फाग आदि-आदि विषय लिखे हैं।

पजनेस

ये पन्ना के रहने वाले थे और इनका कविता काल १६०० के निकट माना जाता है। इनकी स्फुट कविताओं का संग्रह 'पजनेश प्रकाश' के नाम से मिलता है।

नवीन युग

गद्य का विकास

परिस्थिति में परिवर्तन—यद्यपि रीतिकाल के अन्तिम भाग में मौलिक कविता बहुत कम हुई तथापि कविता के विस्तार और विचार की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। कविता चुने हुए लोगों की ही वस्तु न रह कर लोकव्यापी हो गयी थी। शृंगार-रस के कवित्त, सवैये प्रायः बहुत से लोगों को मुखस्थ हो गये थे। समस्या-पूर्ति की प्रथा चल पड़ी थी। कविता तो बहुत होती थी किन्तु उसमें विषय-वैविध्य कम था। कवियों की सारी शक्ति या तो अलंकार और नायिका भेद के उदाहरण उपस्थित करने में केन्द्रित रहती थी या वे शृंगार के स्फुट छन्द लिख लेते थे। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में पद्य रचना करना स्वाभाविक ही था, बहुत बढ़े तो नीति के दोहे और कुण्डलियाँ रच डालीं। कहीं-कहीं सच्चे वीर-रस के छींटे भी मिल जाते थे। कविता का अर्थ एक बंधी हुई रीति पर चलना रह गया था। इसी कारण उस समय कविता का बाहुल्य था। सिंह और सपूतों की भाँति लीक छोड़ कर चलना लोग बहुत कम जानते थे। साहित्य का वातावरण सौरभमय होते हुए भी उन्मुक्त न था। उसमें नव विकसित सुमनों के सद्य-सौन्दर्य से समन्वित प्रातः समीरण के सौरभ की स्फूर्तिदायिनी शक्ति न थी वरन् शीशी में बन्द इत्र की विलासमयी मादकता थी। ब्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी। अलङ्कारों से लद कर इसमें कुछ शैथिल्य-सा आ गया था। सूर, मतिराम, घनानन्द, रसखान आदि कवियों की भाषा में जो स्वाभाविक-सौन्दर्य और सजीवता थी वह न रही थी।

काव्य में राज दरबारों की गुलगुली, गिलमें और गलीचों के विलासमय जीवन की छाप थी। कविता में सुलाने की सामग्री अधिक थी, जगाने और जिलाने की कम। निद्रा के पश्चात् उद्बोधन का समय आता है। अँगरेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन की कठोर वास्तविकताओं की ओर गया। जीवन संग्राम बढ़ा और साथ ही जातीय जीवन की भी जाग्रति हुई।

विकास के कारण यद्यपि भूषण और लाल ने जातीय जीवन का बीजारोपण कर दिया था तथापि जाति की मोह-निद्रा भंग नहीं हुई थी। वीर-गाथा काल में तो एक-एक राज्य ही अपने को देश समझता था और अपने भाइयों को ही नीचा दिखलाने में वीरता केन्द्रस्थ थी। कवि लोग भी 'जिसका खाना उसका गाना' वाले सिद्धान्त को मानने वाले थे। उनके आश्रयदाता का पक्ष बुरा हो चाहे भला इसकी उनको परवाह न थी। भूषण के समय में कुछ संगठन के भाव दिखलायी पड़े थे और हिन्दुओं की लाज रखने की दुहाई दी जाने लगी थी। अंगरेजी और अन्य विदेशी सभ्यताओं के संघर्ष और घात-प्रतिघात से घोर जाग्रति हुई। लोग अपनी सभ्यता को महत्व देने लगे। जनता ने अपने राजनैतिक अधिकारों को समझा और अपने राष्ट्रीय भावों को प्रकट करना चाहा।

मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार बुद्धिवाद के आधार पर न करके तलवार के ज़ोर से करना पसन्द किया था। अंगरेज़ों ने अपने धर्म का प्रचार बुद्धिवाद से करना चाहा। हिन्दू लोगों ने विदेशी धर्मों का मुकाबिला करने के लिए अपने धर्म को बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना आरम्भ किया। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की और महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की।

ऐसे बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्दिता के समय में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्य उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता था। पद्य में कहीं-कहीं भाव और भाषा को छन्द और लय के अनुकूल करना पड़ता है। कवियों के मनोराज्य में तो थोड़ी बहुत उलटफेर की गुंजाइश रहती है किन्तु जहां भौतिक स्वार्थों के हेतु और अपना घोड़ा एक कदम आगे बढ़ा ले जाने के लिए

एक-एक शब्द की नाप-तोल हो या बाल की खाल निकालने का प्रयत्न किया जाय वहाँ पर शब्दों का ही मूल्य होता है, छन्द का नहीं। उस समय के लोगों की मनोवृत्ति उस जाट की सी होगई थी जिसने कहा था कि 'तुक न मिली तो क्या हुआ बोझों तो मरेगा।' तुक मिलाने की अपेक्षा शब्दों का अर्थ-गौरव तोलने की ओर झुकाव हो चला था। संस्कृत में भी जो सूक्ष्म विवेचन होता था वह गद्य की वृत्तियों और टीकाओं द्वारा ही होता था।

प्राचीन समय में वैज्ञानिक ग्रन्थ भी पद्य में लिखे जाते थे। इसका कारण यह था कि मुद्रण-कला के अभाव में पुस्तकों का कंठस्थ करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था। इसीलिए 'विद्या कंठ और द्रव्य गांठ' की लोकोक्ति चल पड़ी थी। पद्य की तुक और लय उसे कंठस्थ करने में सहायक होती थी। मुद्रण यन्त्रों के अभाव में पद्य कम से कम पुस्तकों की रक्षा के लिए आवश्यक हो गया।

उपर्युक्त कारणों से अँग्रेजी राज्य के साथ-साथ गद्य का युग आया। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पद्य का सर्वथा ह्रास हो गया था अथवा इसके पूर्व गद्य का अत्यन्ताभाव था, क्योंकि गद्य तो गोरखनाथ ने भी लिखा था। भावों और मनोवेगों के प्रकाशन के लिए पद्य स्वाभाविक माध्यम है किन्तु जीवन की साधारण आवश्यकताओं के लिए पद्य लिखना हास्यास्पद हो जाता है। नवीन युग में भावों और मनोवेगों को स्थान अवश्य है क्योंकि उसके बिना जीवन शुष्क और नीरस हो जाता है किन्तु जीवन की साधारण आवश्यकताएँ हमारे सामने कुछ अधिक उग्र रूप में आती हैं। उनके लिए हमें गद्य का ही सहारा लेना पड़ता है।

गद्य की भाषा—गद्य के लिए यह प्रश्न था कि वह किस भाषा में लिखा जाय। ब्रज भाषा में थोड़ा-बहुत गद्य जैसे चौरासी वैष्णवों और दो सो बावन वैष्णवों की वार्ता और कुछ टीकाएँ भी अवश्य लिखी गई थीं। राजस्थानी में भी पत्र आदि मिलते हैं। किन्तु इससे गद्य-साहित्य का यथेष्ट विकास न हुआ क्योंकि जनता की रुचि पद्य की ओर अधिक थी। पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था किन्तु नवीन युग के आजाने पर उसकी कोमल-कान्त-पदावली

जीवन की संघर्षमय कठोर भूमि के लिऐ अनुलकू न सिद्ध हो सकी। व्रज-भाषा गद्य के उपयुक्त न ठहरी। अरबी फारसी भी व्यवहार योग्य भाषाएँ न थीं। राज-दरबार से फारसी का चलन उठ गया था। उर्दू ने उसका स्थान ले लिया था। मेकाले ने अंग्रेजी-शिक्षा पर अधिक जोर दिया। लेकिन न उर्दू जनता की भाषा थी और न अंग्रेजी। अंग्रेज लोग भी इस बात को स्वीकार करते थे। पादरी लोगों ने तो अपनी बाइबिल का अनुवाद पहले-पहल हिन्दी में किया था। इस सम्बन्ध में पादरी विलियम केरे (William Carey) का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अफसर लोग शासन के सुभीते के लिए जनता की भाषा से परिचय प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने फोर्ट विलियम के मदरसे में उर्दू के अलावा हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया। इस समय जॉन गिलक्रिस्ट आदि अफसरों की प्रेरणा से कुछ ग्रन्थ भी लिखे गये।

यद्यपि खड़ी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर से भी पूर्व था और गङ्ग आदि ने इसका प्रयोग गद्य में भी किया तथापि वह जनता की भाषा रही, साहित्यिक भाषा न हो सकी क्योंकि साहित्यकार पद्य की ओर अधिक झुके हुए थे जिस में कि व्रजभाषा और अवधी का चलन था। जनता की भाषा होने के कारण यह गद्य के लिए विशेष उपयुक्त थी।

खड़ी बोली के प्रारम्भिक चार लेखक

खड़ी बोली में गद्य लिखने का सूत्रपात करने का श्रेय चार महानुभावों को है। मुन्शी सदासुखलाल और इन्शाअल्ला ने स्वान्तःसुखाय और लल्लू-लाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम की छत्रछाया में अंगरेजी अफसरों की प्रेरणा से लिखा है। इनका कार्य प्रायः १८६० के निकट आरम्भ हुआ। इससे पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से पहले संवत् १८६८ में रामप्रसाद निरञ्जनी ने भाषा योगवासिष्ट लिखी और संवत् १८१८ में पं० दौलतराम ने हिन्दी में जैन पद्मपुराण का अनुवाद किया। इनमें हमको खड़ी बोली का अच्छा नमूना मिलता है।

सदासुखलाल

(सं० १८०३-८१) ये दिल्ली के रहनेवाले थे और इनका उपनाम 'नियाज़' था। उर्दू और फारसी में भी कई पुस्तकें लिखी हैं और शायरी भी इन्होंने पर्याप्त मात्रा में की है। पहले ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकर थे और ६५ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़ कर तीर्थवास करने प्रयाग चले गये थे। मुन्शीजी बड़े भगवद्भक्त थे और उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से जन-सुलभ भाषा में श्रीमद्भागवत का उल्था किया जो कि 'सुखसागर' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने पूर्वी प्रान्त में रहने वाले हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का पुट देकर उसे साहित्यिक रूप दिया। इनकी भाषा में कहीं-कहीं फ़ारसी व्याकरण का प्रभाव दिखलाई पड़ता था, जैसे—'बीच पढ़ने स्तोत्र व करने ध्यान नारायणजी के लीन हुए।' 'सुखसागर' एक धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण कथावाचक पण्डितों के प्रभाव से खाली नहीं है।

लल्लूलालजी

(सं० १८०२—८२) ये आगरे के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। संवत् १८६० में इन्होंने प्रेमसागर नाम का ग्रन्थ लिखा। इसमें श्रीमद्भागवत की दशमस्कन्ध की कथा का वर्णन है। इनकी भाषा की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१—यह कृष्णोपासक कथावाचकों की सी ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली है।

२—अकबरी दरबार के गङ्ग और इनकी भाषा में इतना ही अन्तर है कि गङ्ग ने फारसी, अरबी के भी कुछ प्रचलित शब्द रक्खे हैं और लल्लूलालजी ने ऐसे शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया है। 'बेरख' आदि तुरकी भाषा के जो शब्द अनजान में आगये हैं उनकी दूसरी बात है।

३—तुक और अनुप्रास का बाहुल्य-सा है।

४—वाक्य कहीं-कहीं बड़े हो गये हैं और मुहावरों का प्रयोग कम है। उनकी भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है :—

'महाराज इसी नीति से अनेक-अनेक प्रकार की बात कहते-कहते और सुनते-सुनते जब सब रात बितीत भई और चार घड़ी पिछली रही तब नन्दराय जी से ऊधो जी ने कहा कि महाराज अब दधि मथने की बिरियाँ हुई, जो आपकी आज्ञा पाऊँ तो यमुना स्नान कर आऊँ। नन्द महर बोले—बहुत अच्छा। इतना कह वह तो वहीं बैठे सोच-विचार करते रहे और ऊधोजी उठ झट रथ में बैठ यमुना तीर पर आये। पहले वस्त्र उतार देह शुद्ध करी पीछे नीर के निकट जाय रज सिर चढ़ाय, हाथ जोड़, कालिन्दी के प्रति स्तुति गाय आचमन कर थल में बैठे।'

सदल मिश्र

इनका नासिकेतोपाख्यान फोर्ट विलियम कालेज में लिखा गया था। इनकी भाषा में लल्लूलाल जी की भाँति व्रजभाषा के प्रयोगों का बाहुल्य तो नहीं है तथापि पाय, जाय, बिन आदि शब्दों के कारण वह उसके प्रयोग से सर्वथा मुक्त नहीं कही जा सकती है। वे बहुवचन भी व्रजभाषा के तरीके से 'न' लगाकर बनाते थे। कहीं-कहीं पूर्वी बोली के भी शब्द—जौन, इहाँ, जुड़ाई—मिलते हैं। इन्होंने भाषा को व्यवहारोपयोगी बनाने का उद्योग किया है।

इन्शाअल्ला खाँ

इनका जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था और इनके पिता का नाम मीरमाशा अल्लाखाँ था। मुन्शी इंशाअल्ला खाँ ने उर्दू की भी बहुत अच्छी शायरी की थी। आपने संवत् १८५५ और संवत् १८६० के बीच में उदयभान चरित या 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। रानी केतकी नाम की कहानी इस उद्देश्य से लिखी गयी थी कि उसमें "हिन्दवी छुट और किसी की बोली का पुट न मिले।" "हिन्दवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो।" भाषापन से मुसलमानों का अभिप्राय संस्कृत मिश्रित हिन्दी से था। इंशा की भाषा की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

१—इंशा की भाषा में बाहर की बोली (अरबी, फारसी आदि),

गँवारी अर्थात् ब्रजभाषा अवधी इत्यादि और भाषा (संस्कृत) के बहिष्कार करने का उद्योग किया गया है। कहीं-कहीं फारसी के ढङ्ग की वाक्य-शैली दिखाई देती है। जैसे 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया।'

२—गद्य में तुकबन्दी भी बहुत दिखलाई देती है जैसे 'तरसने लगा' 'बरसने लगा' इत्यादि। ये इस बात का प्रमाण है कि भाषा इस समय पद्य के प्रभाव से मुक्त नहीं हुई थी।

३—वर्तमान कृदन्त, विशेषण और विशेष्य के लिंग, बचन एक से ही होते थे। जैसे—आतियाँ जातियाँ जो सासें हैं।

४—इनकी भाषा चलती और चटपटी है। जिसमें घरेलू व्यवहार के शब्द अधिक हैं। इनके वर्णन सर्वथा भारतीय हैं—

"कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का-बक्का कर रहे थे। नवाड़े, भौलिये बजरे, लचके, मोरपंखी, स्यामसुन्दर, रामसुंदर और जितनी ढब की नावें थीं, सुनहरी, रूपहरी, सजी-सजाई कसी-कसाई सौ-सौ लचके खातियाँ फिरतियाँ थीं।'

यह कहना अनुचित न होगा कि खड़ी बोली के साहित्य को जन्म देने का श्रेय इन्हीं चारों महानुभावों को है। पर इन चारों के एक समय के होने पर भी इनकी भाषा में अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। सदासुखलाल की भाषा कुछ पण्डिताऊपन लिये हुए है। इंशाअल्ला की भाषा में शुद्ध हिन्दी रूप दिखाई पड़ता है किन्तु उसमें फारसी का प्रभाव लक्षित होता है। लल्लूलाल जी की भाषा में ब्रजभाषा का अधिक पुट है। मुंशीजी की भाषा में खड़ी बोली का रूप अधिक दिखाई देता है। पर वह कुछ बिहारीपन लिये हुये है।

उपर्युक्त चारों महानुभावों के अतिरिक्त खड़ी बोली के गद्य-निर्माण में ईसाई पादरियों ने बड़ा योग दिया है। प्रत्येक धर्म-प्रचारक जनता की भाषा द्वारा अपने धर्म का शुभ सन्देश जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। यद्यपि उर्दू ने कचहरियों में स्थान पा लिया था तथापि वह जनता की भाषा

न थी, सर्व साधारण की भाषा खड़ी बोली ही थी। इसी बात को स्वीकार कर ईसाई पादरियों ने अपने धर्म ग्रन्थ (बाइबिल) का अनुवाद हिन्दी की खड़ी बोली में कराया। उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों के प्रचार के लिए कई मुद्रणालय स्थापित किये। इनके द्वारा भी हिन्दी के प्रसार और प्रचार में सहायता मिली।

स्वामी दयानन्द

वह समय जागरण का था। हिन्दुओं ने भी अपने धर्म को बुद्धिवाद की भित्तिपर खड़ा करना चाहा। स्वामी दयानन्द ने (सं० १८८१) गुजराती होते हुए भी, हिन्दी में अपने ग्रन्थ लिखे, क्योंकि वही देश व्यापी भाषा थी। स्वामीजी ने हिन्दी एवं संस्कृत का बहुत प्रचार किया। इनका प्रभाव पंजाब पर अच्छा पड़ा। आर्यसमाज स्कूलों में हिन्दी को प्रधानता दी जाने लगी। पं० श्रद्धारामजी ने जो पंजाब के रहने वाले थे हिन्दी में कई ग्रन्थ लिखे। पण्डितजी ने हिन्दी में जीवनी और उपन्यास लिखने की एक प्रकार से नीव डाली।

राज-दरबारों की भाषा हो जाने के कारण उर्दू को सुगमता से स्कूलों में स्थान मिल गया। मुसलमान इसी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। उनका दावा था कि युक्त प्रान्त में उर्दू के अतिरिक्त और कोई भाषा शिक्षा का माध्यम होने की क्षमता नहीं रखती।

राजा शिवप्रसाद

हिन्दी के सौभाग्य से राजा शिवप्रसाद (सं० १८८०-१९२०) को शिक्षा-विभाग में स्थान मिला। इनके प्रयत्न से हिन्दी का भी स्कूलों में प्रवेश हुआ। उन दिनों हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव सा था। राजा शिवप्रसाद ने इस अभाव की पूर्ति स्वयं भी करने का उद्योग किया और उसको कराया भी। उन्होंने बनारस से 'बनारस अखबार' नाम का एक पत्र निकाला और उसके द्वारा हिन्दी प्रचार का प्रयत्न किया। इनकी भाषा में फारसी, अरबी के शब्दों का अधिक प्रयोग होता था और इसी कारण वह उर्दू के अधिक निकट थी। यदि इसको हिन्दी लिपि में लिखी हुई उर्दू कहा जाय तो असत्य न होगा।

थे एक प्रकार से उर्दू से समझौता करके हिन्दी को स्कूलों में स्थान दिलाना चाहते थे। राजा साहब शुद्ध हिन्दी लिख सकते थे (उनका 'राजा भोज का सपना' शुद्ध हिन्दी में ही है) पर उन्होंने उर्दूमय हिन्दी लिखना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। उनकी भाषा में तत्कालीन अनुप्रास-प्रियता का परिचय मिलता है। बहुत से स्थानों पर तुकबन्दी पूर्णरूप से मिलती है। यह बात इसका प्रमाण है कि यद्यपि लोग भाषा में सरलता लाने का उद्योग करते थे तथापि वे सर्वथा पद्य के प्रभाव से मुक्त न थे।

राजा शिवप्रसादजी के प्रयत्न से हिन्दी को स्कूलों में स्थान तो अवश्य मिला किन्तु उनकी पद्धति का अनुसरण करने में उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के खो जाने की आशंका थी। समझौता करने में लोग प्रायः आवश्यकता से अधिक खो बैठते हैं। बंगाली आदि प्रान्तीय भाषाओं ने अपना सम्बन्ध मूल जननी संस्कृत से अलग नहीं किया था।

राजासाहब के कुछ लेखों में तो उर्दू शब्दों का वाजिबी मात्रा में प्रयोग हुआ है किन्तु कहीं-कहीं उनकी भाषा बिलकुल उर्दू हो जाती है। दोनों शैलियों के यहां उदाहरण दिये जाते हैं:—

'यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया मानो धर्म का उद्धार करने को इस जगत में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।'—राजा भोज का सपना।

दूसरी प्रकार की शैली का उदाहरण—

दरख्त सायादार और मेवों के इस इफरात से हैं कि सारे इलाके को क्या पहाड़ और क्या मैदान, कोई ऐसी जगह नहीं जो सब्जी और फूलों से खाली हो—सब्जी कैसा मानो अभी इस पर मेह बरस गया है, पर जमीन ऐसी सूखी कि उस पर बेशक बैठिए सोइए, मजाल क्या जो कपड़े में कहीं दाग लग जावे। न काँटा है न कीड़ा-मकोड़ा, न साँप बिच्छू का वहाँ डर है न शेर हाथी जैसे मूजी जानवरों का घर।

राजा लक्ष्मण सिंह—(सं० १८८७-१९५६) ने हिन्दी का स्वत्व स्थापित करने तथा उसको हिन्दू-संस्कृत के अनुकूल संस्कृत गर्भित बनाने का प्रयत्न किया। वे अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार करते थे किन्तु उनकी भाषा में कहीं-कहीं आगरा के प्रान्तीय प्रयोग आ जाते थे। अपनी शैली के प्रचार के लिए उन्होंने प्रजाहितैषी अखबार भी निकाला था।

इस प्रकार हिन्दी के पक्षपाती राजा की पदवी से विभूषित दोनों महानुभावों ने दो प्रतिकूल शैलियों का अनुसरण किया। एक हिन्दी को उर्दू मय बनाना श्रेयस्कर मानते थे तो दूसरे हिन्दी का कल्याण उसको संस्कृत गर्भित बनाकर उसका स्वत्व स्थापित करने में समझते थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (सं० १९०७—४१) ने दोनों छोरों के बीच का मार्ग निश्चित कर हिन्दी की प्राण-प्रतिष्ठा की। वे हिन्दी को न तो उर्दू बनाना चाहते थे और न संस्कृत। वे हिन्दी को उसका निजी रूप देना चाहते थे। उन्होंने आवश्यकता के अनुकूल सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया। इनकी भाषा में प्रधानता बोलचाल के शब्दों की ही रहती थी। भारतेन्दुजी अपनी भाषा में संस्कृत के उन शब्दों को स्थान देते थे जिनका व्यवहार रोजाना की बोलचाल में होता था और उर्दू के उन्हीं शब्दों का व्यवहार करना उचित समझते थे जिनको कि जनता ने अपना लिया था। भारतेन्दु ने भिन्न-भिन्न अवसरों के लिए भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उनकी शैली भावानुसारिणी होती थी। उनके शब्द-चित्र बड़े सुन्दर और प्रभावोत्पादक होते थे। मुख्यतया उनकी शैली दो प्रकार की कही जा सकती है—पहली भावावेशपूर्ण—जिसमें तद्भव शब्दों के साथ छोटे छोटे वाक्यों का बाहुल्य रहता था। दूसरी विचार-पूर्ण या तथ्य निरूपण की शैली—जिसमें कि विचारों की आवश्यकताओं के अनुकूल संस्कृत तत्सम शब्दों का भी प्रयोग होता था। उनकी भाषा में चलते हुए उर्दू के शब्द विशेष सजीवता उत्पन्न कर देते हैं।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दुजी के हमको दो रूपों में दर्शन मिलते हैं। एक गद्य लेखक के रूप में, दूसरे कवि के रूप में। उन्होंने दोनों ही रूपों में अपने व्यक्तित्व की छाप डाली। "राधारानी के गुलाम" होते हुए भी वे विचार में पूर्ण स्वतन्त्र थे और कई लेखों में उन्होंने अपनी गवेषणाबुद्धि का भी परिचय दिया है। वे समाज-सुधार के पक्षपाती थे। धार्मिक होते हुए भी वे तर्क और गवेषणा से काम लेने में नहीं हिचकते थे।

भारतेन्दु बाबू ने तत्कालीन जनता के मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने का उद्योग किया था। आपने कई पत्र और पत्रिकाओं की स्थापना की। आपकी 'कवि-वचन-सुधा' नाम की पत्रिका में पुराने कवियों की कविताओं का संग्रह रहता था। 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' नाम की एक मासिक पत्रिका भी आपने निकाली जो पीछे से 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नाम से विख्यात हुई। स्त्री-शिक्षा के लिए भारतेन्दुजी ने 'बाला-बोधिनी' नाम की एक मासिक-पत्रिका निकाली।

उपर्युक्त पत्रिकाओं द्वारा विविध विषयों की विवेचना होने के कारण गद्य का प्रयोग बाहुल्य के साथ होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रभाव से बहुत से लेखकों ने हिन्दी साहित्य में योग देना आरम्भ किया और उनके चारों ओर उज्ज्वल नक्षत्रों का एक मण्डल बन गया। उस समय के लेखकों का प्रधान गुण जिन्दादिली था। उनमें एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति और चमत्कार लक्षित होती है। उस समय के लेखकों ने अपनी हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली का समाजसुधार और राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया है।

भारतेन्दुकाल के लेखकों में पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, ला० श्रीनिवासदास और पं० अम्बिकादत्त व्यास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३-१९५२) की शैली में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य सा प्रतीत होता है, परन्तु हरिश्चन्द्र की भाँति इन्होंने

भी उर्दू के उन्हीं शब्दों को लिखा है, जिनका चलन हिन्दी में बहुत काल से था। इनकी भाषा में विशेष सजीवता और बोलचाल का चलतापन है। इनमें विनोद-प्रियता अधिक थी। इसी विनोद-प्रियता के कारण ये पूर्वीपन की परवा न करके बैसवारे की ग्रामीण कहावतें और शब्दों का भी प्रयोग निस्संकोच करते थे। साधारण से साधारण विषय में भी ये मनोरञ्जन की सामिग्री उपस्थित कर देते थे। इनके ब्राह्मण अखबार में बहुत ही चलते हुए और चटपटे मज़मून निकलते थे। ये अपने विचारों में बड़े स्वतन्त्र थे।

उदाहरण "अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हो तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि आप शब्द संस्कृत के आत्म शब्द का हिन्दी रूपान्तर है,.............अब तो समझ गए न, आप क्या हैं ? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं! हाँ आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए फिर आप ही समझने लगिएगा कि आप वो हैं ? कहाँ के, कौन हैं"

पं० बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१–१९७१)

इनकी शैली भी कुछ-कुछ मिश्रजी की सी ही थी। मिश्रजी की भाँति भट्टजी भी स्थान-स्थान पर बोलचाल के चलते शब्दों का प्रयोग करते थे और उनकी भाषा में मुहावरों का व्यवहार कुछ बाहुल्य के साथ होता था। उसमें संस्कृत के उद्धरणों का भी यत्र-तत्र समावेश रहता था। इनके वाक्य भी कुछ ,बड़े-बड़े होते थे। इनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग भी प्रायः मिलते हैं। सं० १९१२ में उन्होंने अपना 'हिन्दी प्रदीप' अखबार निकाला, जिसमें बहुत से मनोरंजक निबन्ध निकलते थे। इनका हास्य मिश्रजी की अपेक्षा अधिक शुष्ठ और साहित्यिक होता था। इनके निबंधों में गम्भीर अध्ययन और पाण्डित्य का परिचय मिलता है परन्तु उनका यह पाण्डित्य भाषा की सुबोधता में बाधक नहीं हुआ। इनके लेखों में शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य अधिक है,

इसलिए उनमें विचार की स्वतन्त्रता के साथ भाषा का भी अच्छा चमत्कार दिखलाई पड़ता है। ये उर्दू तथा अंग्रेजी मिश्रित भाषा भी लिखते थे।

उदाहरण—नौजवानी की उठती उमर ऐसी अल्हड़पन की होती है कि इस उमर में दूरंदेशी (Precaution) या पूर्वविधान बिलकुल नहीं रहता बल्कि बुरी आदतें एक एक करके पड़ती जाती हैं। जिस समय उन खराब आदतों का आना प्रारम्भ होता है कुछ नहीं मालूम होता; जैसे पहाड़ों पर जब बर्फ गिरने लगता है, तब कभी किसी को ध्यान भी नहीं आता, पीछे थोड़ा-थोड़ा करके जमा होते-होते वही हिम संहति (Avalanche) हो जाती है। तब सूरज की तेज गरमी भी उसे पिघला नहीं सकती। इसी तरह अल्हड़पन की उमंग में खराब आदतें जब आना शुरू होती हैं तब उस पर बहुत ध्यान नहीं आता, पीछे वही इतनी दृढ़ और बद्धमूल हो जाती है कि आमरणान्त, जन्म भर के लिए दामनगीर हो जाती हैं।

उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

(सं० १९१६–१९७९)

प्रेमघनजी की शैली इन दोनों से भिन्न थी। वे बोलचाल के शब्दों का बहुत कम प्रयोग करते थे। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द बहुतायत से आते थे किन्तु कहीं-कहीं वे अपनी भाषा को कलात्मक बनाने के प्रयत्न में बोलचाल की भाषा से कुछ चुभते हुए शब्द ले आते थे। वे शिल्पी की भाँति अपनी रचना को गढ़ा करते थे और उतावलेपन के विरोधी थे। इनकी भाषा में अनुप्रास-प्रियता की गन्ध भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है और प्रायः तुकबन्दी भी रहती थी। इन्होंने 'आनन्द-कादम्बिनी' नाम की एक साहित्य पत्रिका निकाली। इसके पूर्व 'नागरी नीरद' नामक एक साहित्यिक पत्र भी इन्होंने निकाला था। अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में इन्होंने समालोचना का भी सूत्रपात किया। इन्होंने बाबू गदाधरसिंह द्वारा अनुवादित वङ्गविजेता और लाला श्रीनिवास दास कृत संयोगिता-स्वयम्बर की बड़ी विचार-पूर्ण आलोचना लिखी।

लाला श्रीनिवासदास (सं० १६०८–१६४४)

लालाजी अपने समकालीन लेखकों की अपेक्षा कुछ अधिक गम्भीर थे और इन्होंने केवल विनोद प्रियता के लिए लेखनी नहीं उठाई, वरन् व्यापक अनुभव से जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने का भी प्रयत्न किया। इन्होंने 'सत्ता संवरण', 'संयोगिता स्वयंवर', 'रणधीर प्रेम मोहिनी' नाम के तीन नाटक लिखे और 'परीक्षा गुरु' नाम का एक उपन्यास भी। इनके नाटकों में पाश्चात्य आदर्शों का अधिक प्रभाव दिखलायी देता है। भारतीय प्रथा के विपरीत इनका रणधीर प्रेम-मोहिनी नाटक दुखान्त है। इन्होंने अपने नाटकों में बहु-भाषा-ज्ञान का परिचय दिया है। परीक्षा गुरु में चरित्र–चित्रण का भी उद्योग है। किन्तु उसकी रचना शैली में हितोपदेश की सी बीच-बीच में नीति के उद्धरण देने की प्रवृत्ति है। लालाजी नये ढङ्ग के मौलिक उपन्यास लिखने में अग्रगण्य हैं ! इनकी भाषा बड़ी मुहावरेदार और स्वाभाविक है, जिसमें फारसी शब्दों का भी पुट है। ये दिल्ली की भाषा से प्रभावित थे उसका मिठास भी उनकी भाषा में परिलक्षित होता है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास (१६१५–१६५७)

व्यासजी उन विरले पुरुषों में से हैं जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी दोनों की ही समान रूप से सेवा की है। इन्होंने हिन्दी की सेवा के लिए 'पीयूष प्रवाह' नाम का अखबार निकाला, 'ललित' और 'गौ-संकट' नाम के दो नाटक लिखे और 'गद्य-काव्य-मीमांसा' नाम का गद्य ग्रन्थ भी लिखा।

व्यासजी की शैली में व्याख्यानों का सा प्रभाव भाषित होता है। इनकी भाषा सरल और प्राचीनता की पोषक है। एक ही बात को आप कई बार कहते हैं, पर इतने अच्छे ढंग से कह देते हैं कि उसमें जान-सी पड़ जाती है और एक नयापन-सा प्रतीत होने लगता है। इनकी भाषा विभक्ति और विराम चिह्नों की त्रुटियों के कारण अपने समय का अपवाद कही जा सकती है।

पं० राधाचरण गोस्वामी (सं० १६१५–१६८२)

गोस्वामीजी पुराने ढङ्ग के होते हुए भी बड़े स्वतन्त्र विचार के थे। आपने बहुत से लेख लिखे और बहुत से उपन्यासों द्वारा हिन्दी की कलेवर वृद्धि की। 'विदेश-यात्रा-विचार' और 'विधवा-विवाह विवरण' आपके दो ग्रन्थ समाज-सुधार के सम्बन्ध में लिखे गये थे।

उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त बाबू तोताराम जिन्होंने 'केटो-वृतान्त' नाम का नाटक लिखा है, पण्डित मोहनलाल पांड्या जिन्होंने हिन्दी में अनेक प्राचीन खोज सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, पण्डित केशवराम भट्ट जिन्होंने शमशाद-सौसन और सज्जाद-संबल नाम के दो नाटक लिखे हैं, पण्डित भीमसेन शर्मा जिन्होंने बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये प्रायः सभी लोग भारतेन्दु बाबू से प्रभावित थे।

बाबू बालमुकन्द गुप्त (संवत् १६२२–१६६४)

आपने 'बङ्गवासी' और 'भारतमित्र' द्वारा हिन्दी की विशेष सेवा की है। इन्होंने हिन्दी भाषा को प्रवाहमय बनाने में बहुत योग दिया है। इनके 'शिव-शम्भू के चिट्ठे' हास्य और व्यंग्य साहित्य में सदा स्मरणीय रहेंगे। ये बड़ी शिष्टता के साथ गहरी चुटकी लेते थे। इनके हास्य में न ग्रामीणता थी और न धौल-धप्पा तथा मार-कूट की खोखली खिलखिलाहट। इनके व्यंग्य-पूर्ण लेखों में राजनीति की मात्रा अधिक रहती थी।

आधुनिक गद्य का विकास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जो साहित्य-निर्माण हुआ, उसके कारण हिन्दी गद्य ने अपना एक निजी स्थान बना लिया है। नाटकों, उपन्यासों और तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के चटपटे लेखों ने जनता का चित्त आकर्षित कर लिया था। किन्तु तो भी हिन्दी का यथेष्ट आदर न था। राज-दरबार में उसका कोई स्थान न था। लोग अँग्रेजी के पाण्डित्य पर ही गर्व करते थे। भारतेन्दु

के समय से हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में जो आन्दोलन उठा उसका मूल्य उस काल में निर्माण किये हुए साहित्य से कम न था। राष्ट्रीय आन्दोलन को साहित्यिक रूप देने वालों में भारतेन्दुजी अग्रगण्य थे। उनके समय के साहित्य में राष्ट्रीयता की छाप थी और राष्ट्रीय जाग्रति के साथ लोग अपनी चीजों की ओर झुके। 'हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान' की पुकार उठी और निज भाषा की उन्नति को ही सब उन्नतियों का मूल समझा जाने लगा। चारों ओर हिन्दी की धूम मच गयी। हिन्दी का झण्डा लेकर जत्थे के जत्थे प्रचार में सम्मिलित होने लगे। नगर-नगर में सभा सुसाइटियाँ खुल रही थीं। इनमें नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राय-बहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरदास के उद्योग से सभा ने खूब उन्नति की। प्राचीन ग्रन्थों की खोज जारी हुई और कई पुस्तकमालाएँ निकलीं जिनमें विविध विषयों पर ग्रन्थ प्रकाशित किये गये। इनमें सभा की मनोरंजन पुस्तकमाला और श्री नाथूराम प्रेमी की हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर सीरीज प्रमुख हैं। कवियों की जीवनियाँ भी लिखी जाने लगीं। हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने के प्रारम्भिक प्रयत्न स्वरूप शिवसिंह सेंगर (सं० १९४०) ने अपना शिवसिंह सरोज, तथा भाषा-तत्व-वेत्ता डा० (और पीछे से सर) जार्ज ग्रियर्सन ने मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न इण्डिया, नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराये।

नागरी लिपि के प्रचार का आन्दोलन जारी रहा। देश के प्रमुख विद्वानों और महामना पं० मदनमोहन मालवीय जैसे देश के नेताओं ने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए रात-दिन परिश्रम किया। उनके अविरल परिश्रम के फल स्वरूप संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर एण्टनी मेक्डोनल के काल में हिन्दी की मनक पड़ी और नागरी लिपि ने गौण रूप से अदालतों में भी स्थान पाया। इन आन्दोलनों से राज-दरबार में चाहे विशेष सफलता न हुई किन्तु जनता में हिन्दी का प्रचार खूब हुआ। जहाँ बिस्मिल्ला हररहमानुर्रहीम से विद्यारम्भ संस्कार कराया जाता था वहाँ 'श्रीगणेशायनमः' से पट्टी पुजने लगी। हिन्दी स्कूलों की संख्या बढ़ी और लोग चाहे अदालती काम के

लिए उर्दू पढ़ते हों किन्तु घरेलू काम-काज और पत्र-व्यवहार के लिए हिन्दी भी सीखने लगे। स्त्री-शिक्षा के प्रचार बढ़ने से भी हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ी। गृहलक्ष्मियों का उर्दू पढ़ना असांस्कृति सा लगता था और उर्दू द्वारा उनकी धार्मिक भावना की तृप्ति होने की सम्भावना भी न थी। इस प्रकार हरिश्चन्द्र युग के अन्त में हिन्दी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।

जब कोई पौदा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में होता है तो उसमें पानी देकर उसको विकसित करना ही उसके हितचिन्तक मालियों का परमोद्देश्य होता है। हरिश्चन्द्र युग के साहित्योद्यान की भी यही दशा थी। उसमें नाना प्रकार के छोटे-बड़े पौदे उगे थे। उनकी काट छाँट नहीं हुई थी। अलंकारिक भाषा को छोड़कर यह कहना होगा कि भारतेन्दुजी के समय में हिन्दी के विस्तार के लिए नहीं, लोग अपनी उमंग में लिखते थे। व्याकरण और वाक्य विन्यास की ओर कम ध्यान था। अंगरेजी पढ़े बाबू लोग जो कि श्रद्धा और भक्ति के साथ हिन्दी के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे व्याकरण के नियमों से अनभिज्ञ थे। वे लोग उसमें नवीन विचारों को अवतरित कर उसके भण्डार की पूर्ति करना चाहते थे किन्तु उनको भाषा का यथोचित ज्ञान न था। उस समय भाषा को शुद्ध और व्याकरणानुकूल बनाने की आवश्यकता थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती सम्पादक की हैसियत से लेखकों की भाषा को शुद्ध और परमार्जित बनाने के लिये समयोचित सेवा की। अशुद्ध लेखों को काट-छाँट कर लेखकों के दोष बतलाने में नहीं चूकते थे। वे अध्यापक की भाँति संशोधन कार्य करते थे। उनकी प्रेरणा से नये-नये विषयों पर खोज-पूर्ण निबन्ध लिखे जाने लगे। कुछ लोग हिन्दी को स्वतंत्र रूप देने के कारण अपनी इच्छा से व्याकरण के नियमों और शुद्धता की विशेष परवाह न करते थे। ऐसे लोगों के होते हुए भी भाषा पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्थायीरूप से पड़ा।

द्विवेदी युग में हिन्दी साहित्य अपनी शैशवावस्था को छोड़ कर यौवनावस्था की ओर अग्रसर हो रहा था। विचारशील लोग भी नवीन विचारों के लिये हिन्दी पुस्तकों का पठन-पाठन लज्जा का विषय न समझते थे। हरिश्चन्द्र

के समय से जो बंगाली साहित्य का अनुकरण हो रहा था वह तो किसी अंश में रहा और उसने हिन्दी को संस्कृत गर्भित बनाने में बहुत कुछ योग भी दिया किन्तु तब ऐसा साहित्य भी निर्माण होने लगा था, जो अन्य प्रान्तीय साहित्यों से टक्कर ले सके।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र से लेकर द्विवेदीजी तक हिन्दी साहित्य का तो विकास हुआ ही उसके साथ-साथ गद्य शैली भी बहुत कुछ परिवर्तित होकर एक निखरा हुआ रूप धारण करने लग गई थी। उसमें से तुकबन्दी का प्रभाव बिलकुल उठ गया था। संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर लेखकों का अधिक झुकाव हो गया था और भाषा भी कुछ अधिक संस्कृत गर्भित होने लगी थी। शब्द भी ठेठ संस्कृत कायदे से लिखे जाने लगे थे। विराम चिन्हों का अधिक व्यवहार होने लगा था। पीछे से वाक्यों में अङ्गरेजी मुहावरों और शैली का समावेश होने लगा।

हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी

हिन्दी के विकास में साहित्यिकों के अतिरिक्त कुछ राजनैतिक लोग भी योग देने लगे। हिन्दी राष्ट्र भाषा का रूप धारण करने लगी। उसकी व्यापकता बढ़ी और अन्य प्रान्तों में विशेषकर मद्रास में भी जहाँ हिन्दी बिलकुल नहीं समझी जाती थी, हिन्दी का प्रचार होने लगा। इसका सबसे अधिक श्रेय महात्मा गांधी और साहित्य सम्मेलन प्रयाग को है। मुसलमानों से सम्पर्क में आने के लिए भी हिन्दी के संस्कृतपन मिटाने की कोशिश की जाने लगी। यू० पी० सरकार से हिन्दू मुसलमानों की एक सम्मिलित भाषा (Common Language) के निर्माण का उद्योग होने लगा। इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना हुई। इसने सम्मिलित भाषा 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार का ध्येय रखते हुए भी हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के साहित्य भण्डार के बढ़ाने में योग दिया है। इस प्रकार आजकल तीन प्रमुख संस्थाएँ हिन्दी के लिए काम कर रही हैं, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, साहित्य सम्मेलन प्रयाग और हिन्दुस्तानी एकेडेमी। पहली दो

संस्थाएँ केवल हिन्दी के लिए ही अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रस्थ कर रही हैं।

हिन्दुस्तानी चाहे जनता में राजनीतिक प्रचार की भाषा बन जाय किन्तु न उसमें उच्च भावात्मक साहित्य की ही सृष्टि हो सकती है और न वैज्ञानिक साहित्य की ही। वैज्ञानिक शब्दावली के लिये या तो संस्कृत ही की शरण लेनी पड़ेगी या फारसी अरबी की। अब देश का बटवारा हो जाने के कारण कम से कम वैज्ञानिक साहित्य में संस्कृत गर्भित हिन्दी का बोलबाला हो जाने की सम्भावना है। ऐसा करने से महाराष्ट्र गुजरात और बङ्गाल शब्दावली की एकता हो सकेगी।

हिन्दी उर्दू दोनों ही खड़ी बोली के रूप हैं। उर्दू ने विदेशी संस्कृत को (अरब और फारिस की) अपनाया है। हिन्दी ने देश की प्राचीन भाषा से सम्बन्ध किया। असली हिन्दुस्तानी तो दोनों की आधार भूत बोल चाल की भाषा है, जिसको हिन्दू मुसलमान दोनों समझते हैं। उसमें कृत्रिम रूप से उर्दू शब्द मिलाने की आवश्यकता नहीं किन्तु वह बोल चाल की ही भाषा रहेगी साहित्यिक नहीं हो सकती।

प्रचार कार्य

नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने प्राचीन ग्रन्थों की खोज और विविध विषयों के नवीन उपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन के अतिरिक्त हिन्दी शब्द सागर नाम का एक बृहद् कोष भी तैयार कराया। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने अपनी परीक्षाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के यथाविधि अध्ययन में बहुत कुछ प्रोत्साहन दिया है। अब विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी भाषा और साहित्य का वैज्ञानिक ढङ्ग से अध्ययन होने लगा है। साहित्य-सम्मेलन के मंगलाप्रसाद पारितोषिक ने भी मौलिक पुस्तकों के लिखे जाने में बहुत कुछ प्रोत्साहन दिया है। गद्य के सभी क्षेत्रों में हिन्दी की उन्नति हो रही है। देव पुरस्कार और बिड़लाजी के बङ्गाल हिन्दू संघ पुरस्कार द्वारा भी लेखकों को अच्छा प्रोत्साहन मिल रहा है। इनके अतिरिक्त और भी पुरस्कारों ने जैसे सेक-

सरिया पारितोषिक (५०० रु० का) जो केवल स्त्रियों के लिये है, मुरारिका पारितोषिक (२०० रु० का) रत्नकुमारी पारितोषिक (२५० रु० का) जो नाटकों पर दिया जाता है, राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार जो समाज शास्त्र और राजनीति की पुस्तकों पर है, आदि ने साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता दी है।

गद्य साहित्य के मुख्यतया नाटक, उपन्यास और आख्यायिका, निबन्ध गद्य-काव्य, जीवनी तथा समालोचना आदि अङ्ग हैं। अब हम इन पर पृथक रूप से प्रकाश डालेंगे।

नाटक

यद्यपि संस्कृति साहित्य में नाटकों की अतुल सम्पत्ति थी, तथापि उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी में नाटकीय ग्रन्थों की रचना बहुत पीछे से हुई। इसका मुख्य कारण तो यह है कि जिस काल में हिन्दी का उदय हुआ उस काल में बहुत कुछ मारकाट रही और लड़ाई की भगदड़ में रंगमंच की स्थापना और उन्नति की सम्भावना बहुत कम थी। मुसलमानी राज्य में कुछ शान्ति का समय आया अवश्य किन्तु मूर्ति पूजा तथा नकल के विरोधी होने के कारण उनकी सभ्यता में नाटक के लिये कोई स्थान न था। इसके अतिरिक्त हिन्दी गद्य का रूप भी निश्चित न था। इन सब बातों के अतिरिक्त जीवन में उत्साह की भी कमी थी। इसलिये भी नाटकीय रचना में बहुत कुछ देरी हुई। अंग्रेजी राज्य में जो रंगमंच की स्थापना हुई वह उर्दू वालों के हाथ में थी। राष्ट्रीय जाग्रति के साथ लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित हुआ और हिन्दी में भी नाटक लिखे जाने लगे।

हिन्दी नाटकों के वास्तविक जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। इनसे पहले नाटक लिखे अवश्य गये किन्तु वे नाटक कहलाने योग्य न थे। देवजी का भी 'देव-माया-प्रपञ्च' नाम का नाटक है, किन्तु वह एक प्रकार की आध्यात्मिक कविता मात्र है। (कुछ विद्वानों का मत है कि वे देव, प्रसिद्ध नवरत्नों के देव नहीं हैं) यही हाल ब्रजवासीदास कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक

का है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद महाराज जसवन्तसिंह ने भी किया था। बनारसीदासजी जैन लिखित 'समय सार' नाम का एक नाटक आध्यात्मिक विषय का बड़ा सुन्दर नाटक है।

मध्यकाल में इङ्गलैंड आदि देशों में भी नाटकों का आरम्भ धार्मिक नाटकों से हुआ। इनको 'मिस्ट्री-प्लेज' अर्थात् रहस्य सम्बन्धी नाटक कहते हैं। इनमें धैर्य, दया, ईर्ष्या, पाप, पाखण्ड आदि ही मूर्तिमान हो नाटकों के पात्र के रूप में आते हैं। पूर्व हरिश्चन्द्र काल के नाटकों में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक, नेवाज कृत 'शकुन्तला' नाटक और हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' उल्लेखनीय हैं। महाराज काशीराज की आज्ञा से 'आनन्द रघुनन्दन' की रचना हुई किन्तु इनमें भी नाटकीय नियमों का पालन नहीं हुआ था। इन नाटकों में छन्द का प्राधान्य था। छन्द में साधारण जीवन के सब अङ्गों का वर्णन नहीं हो सकता और उसी अंश में छन्द प्रधान ग्रन्थ नाटक के परिमाण से गिरे रहते हैं। पात्रों के प्रवेश आदि नियमों का पालन करते हुये सबसे पहला नाटक भारतेन्दुजी के पिता बाबू गिरधरदासजी ने 'नहुष' लिखा था। इसमें इन्द्र और नहुष की कथा है। पहले इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी उसका स्थान नहुष को मिला, वह राजमद को संयत न रख सका, उसने सप्तर्षियों को पालकी में जोता, दुर्वासा के शाप से वह पदच्युत हुआ, इन्द्र अपने पूर्व पद को प्राप्त हुये।

समय के क्रम से यथाविधि रीति के अनुकूल नाटक रचना में दूसरा नाम राजा लक्ष्मणसिंह का आता है। उनका 'शकुन्तला' नाटक यद्यपि अनुवाद है तथापि उसमें मूल का सा सौन्दर्य है। उस अनुवाद ने शकुन्तला की कीर्ति को कायम रक्खा। फ्रैडरिक पिंकाट साहब के सम्पादकत्व में शकुन्तला का एक अनुवाद इङ्गलैंड से निकला था वह इसी का (राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद का) एक संस्करण था। इसके बाद बाबू हरिश्चन्द का नम्बर आता है। एक प्रकार से उन्होंने नाट्यकला को पुनर्जीवन प्रदान किया। उन्होंने कई संस्कृत और बंगला नाटकों के अनुवाद किये और कई स्वतंत्र लिखे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के

लिखे हुए १४ नाटक हैं, जिनमें कई प्रहसन भी हैं। इनमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'मुद्रा राक्षस', 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'चन्द्रावली' आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दुजी के नाटक उनके समय में खेले भी गये। हरिश्चन्द्र के समय से लेखकों ने नाटकों को अपनाना शुरू कर दिया। उस काल के नाटकों में बाबू तोताराम का 'केटो वृतांत', लाला श्री निवास का 'तप्ता संवरण' और 'रणधीर-प्रेम-मोहनी', बाबू गोकलचन्द का 'बूढ़े मुँह मुँहासे, लोग चले तमाशे', बाबू केशवराम कृत 'सज्जाद-सम्बुल (एडीसन के अङ्गरेजी नाटक का अनुवाद) और 'शमशाद शौसन', गदाधर भट्ट का 'मृच्छकटिक', बाबू बदरीनारायण चौधरी का 'वीराङ्गना-रहस्य', अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता' नाटिका 'वेणी-संहार' और 'गो संकट' नाटक और बाबू राधाकृष्णदास के 'दुःखिनी बाला', 'पद्मावती', और 'महाराणा प्रताप' मुख्य हैं।

इन नाटकों के विकास में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो जैसे-जैसे समय आगे चलता गया वैसे-वैसे देवता, राक्षस, गन्धर्वादि दैवी पात्रों की कमी होती गयी। दैवी चमत्कार और आद्भुत्य के स्थान में मनुष्य की बुद्धि और उसके भावों का चमत्कार अधिक दिखाया जाने लगा। नाटक का मनुष्य जीवन से विशेष सम्बन्ध हो गया। दूसरी बात यह है कि क्रमशः पद्य के स्थान में गद्य का प्रवेश होने लगा। पद्य साधारण जीवन की भाषा नहीं समझी जाती। मंत्री लोग गाकर मन्त्र नहीं देते और न राजा लोग नाच कर यह कहते हैं कि—'मैं कौम का राजा हूँ इन्दर मेरा नाम।' नाटक से पद्य का महत्व दूर करने में द्विजेन्द्रलालराय के अनुवादों ने हिन्दी नाटकों पर अच्छा प्रभाव डाला। ये अनुवाद पं० रूपनारायण पांडेय ने सफलतापूर्वक किये हैं। प्रारम्भिक नाटक व्रजभाषा पद्य में लिखे गये। उसके पश्चात् गद्य की भाषा खड़ी बोली हुई और पद्य की भाषा व्रजभाषा रही। आजकल गद्य का प्राधान्य है, पद्य के रूप में अब खड़ी बोली के ही गीत सुनायी पड़ते हैं।

वर्तमान युग में अथवा यों कहिए कि हरिश्चन्द्र युग और वर्तमान

युग के बीच में लाला सीताराम बी॰ ए॰ उपनाम 'भूप' ने बहुत से संस्कृत नाटकों का अनुवाद कर हिन्दी भाषा का बड़ा उपकार किया है। स्वर्गीय पं॰ सत्यनारायण कविरत्न ने महाकवि भवभूति कृत 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' के बहुत ही सुन्दर और सरस अनुवाद किये हैं, जिनमें मौलिकता का आभास होता है। बाबू गङ्गाप्रसाद एम॰ ए॰ ने शेक्सपीयर के बहुत से नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। मुन्शी प्रेमचन्द ने भी आधुनिक अङ्गरेजी नाटककार गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद किया किन्तु उनमें वह बात नहीं आ सकी जो उनके उपन्यासों में है। इन अनुवादों के अतिरिक्त बहुत से मौलिक नाटक भी लिखे गये हैं और वे रङ्गमंच पर खेले भी गये हैं।

धार्मिक नाटककारों मे कथावाचक पं॰ राधेश्याम और नारायणप्रसाद बेताब के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'श्रीकृष्ण अवतार', 'रुक्मिणी-मङ्गल' 'वीर-अभिमन्यु' पं॰ राधेश्याम के नाटकों में अच्छे गिने जाते हैं। बाबू नारायणप्रसाद बेताब के नाटकों में रामायण और महाभारत प्रधान हैं। ये नाटक रङ्गमंच के तो बहुत उपयुक्त हैं किन्तु इनमें साहित्यिकता कम है और उर्दू का भी पुट है। हाँ इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनके द्वारा हिन्दी को रङ्गमच पर स्थान मिल गया और उर्दू का बोल-बाला न रहा। बाबू हरिकृष्ण जौहर के सामाजिक नाटक अच्छे हैं। कृष्णचन्द के नाटकों में राजनीतिक पुट है। किन्तु उनमें उर्दूपन अधिक है। जयरामदास गुप्त ने कुछ सामाजिक नाटक लिखे हैं किन्तु उनमें भी वही बात है। पारसी थियेटरों का अधिक प्रभाव मालूम पड़ता है।

साहित्यिक दृष्टि से बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' का कार्य बहुत सराहनीय है। 'अजातशत्रु' 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' 'विशाख' 'कामना' आदि उनके कई उच्चकोटि के नाटक हैं, जिनमें उन्होंने अपनी गवेषणाशक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है। इनके नाटक अधिकतर ऐतिहासिक हैं। जिस प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय ने मुगलकालीन भारत का चित्र उपस्थित किया है उसी प्रकार प्रसादजी ने बौद्धकालीन

भारत का दृश्य दिखलाया है। इस कारण प्रसादजी भारतीय गौरव-गाथा-गान में विशेष समर्थ हुए हैं। अन्य नाटककारों ने हिन्दुओं के जात्याभिमान तथा मुसलमानों से लोहा लेने की बात का वर्णन किया है। प्रसादजी ने हिन्दुओं की सभ्यता एवं नैतिक श्रेष्ठता दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों को पढ़ कर यह प्रतीत होने लगता है कि प्राचीनकाल में भी आज-कल की सी व्यवस्था थी। प्रसादजी के नाटकों में मनोवैज्ञानिकता पर्याप्त मात्रा में है और कहीं-कहीं बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व दिखलाये गये हैं। उनके नाटकों में प्रसङ्गवश आये हुए गीत साहित्य की निधि है। उनके नाटक कलामय होते हुए भी अत्यन्त क्लिष्ट हैं। वे साधारण रंगमंच के योग्य नहीं रहते, उनके लिए विशेष रंगमंच चाहिए। उनमें प्रसाद गुण की कमी है। उनके साधारण पात्र भी संस्कृतगर्भित भाषा बोलते हैं और दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं। प्रसादजी के अतिरिक्त पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीयुत् जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद', पं० गोविन्दवल्लभ पन्त तथा श्रीयुत् हरिकृष्ण प्रेमी आदि कई सज्जनों ने अच्छे नाटक लिखे हैं। पं० बदरीनाथ भट्ट के नाटकों में हास्यरस का पुट अधिक है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', 'मलिंद' जी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', पन्तजी की 'वरमाला' और 'अँगूर की बेटी' और प्रेमीजी का 'रक्षाबन्धन' 'स्वप्नभंग' आदि नाटक साहित्यिक दृष्टि से अत्युत्तम होते हुए भी रंगमंच की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते हैं। प्रेमीजी के इन दो नाटकों में राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक सहानुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। साहित्य समितियों द्वारा इनमें से कई नाटक समय-समय पर खेले भी गये हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों में हास्य की मात्रा अधिक है किन्तु उनमें साहित्यिक हास्य की अपेक्षा धौल-धप्पे का हास्य अधिक है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी का 'जयन्त' और श्री सुमित्रानन्दन पन्त का 'ज्योत्स्ना' नाटक साहित्यिक दृष्टि से अच्छे निकले हैं। ज्योत्स्ना नाट्य रूपक है, इसमें कल्पना का प्राधान्य है। प्राकृतिक वस्तुओं का मानवीकरण कर

उनको पात्र बनाया गया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के राजयोग, राक्षस का मन्दिर, संन्यासी, सिंदूर की होली, आदि नाटक समस्यात्मक नाटकों में गिने जा सकते हैं। सेठ गोविन्ददासजी ने 'उषा' 'हर्ष' 'कर्तव्य' 'प्रकाश' 'नवरस' 'कुलीनता' आदि कई नाटक लिखे हैं। प्रकाश के आरम्भ में थोड़ा प्रतीकवाद (Symbolism) से भी काम लिया गया है। हाल में सेठजी का लिखा हुआ चतुष्पथ नाम का एक संवादात्मक नाटकों (Monologues) का संग्रह निकला है। ऐसे नाटकों में केवल एक ही पात्र रहता है। महाराज छत्रसाल के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्रजी ने 'मुक्ति यज्ञ' नाम का वीर-रसात्मक एक अच्छा नाटक लिखा है।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' नाटक हमको राजपूत काल के इतिहास की ओर ले जाता है। इसमें हम चण्ड की भीष्म प्रतिज्ञा के दर्शन करते हैं और उसी के साथ वृद्ध-विवाह की सामाजिक समस्या भी उपस्थित हो जाती है। किन्तु यह समस्या अब कुछ पुरानी हो चली है। अश्कजी का लिखा हुआ 'स्वर्ग की झलक' नामक नाटक बिलकुल आधुनिक ढङ्ग का है। इसमें स्त्री-शिक्षा और पारिवारिक जीवन की समस्या है। अश्कजी ने कई एकांकी नाटक भी लिखे हैं। उनके एकांकी नाटकों का संग्रह 'देवताओं की छाया में' नाम से निकला है। उसमें एक दृश्यात्मक छोटी झाँकी भी है।

पं० उदयशंकर भट्ट ने कई नाटक लिखे हैं। उनका इतिवृत्त अधिकतर पौराणिक है। भट्टजी के 'सागर विजय' में सगर का अपने पिता के राज्य-च्युत करने वाले दुर्दय पर विजय प्राप्त करने का हाल है। इसमें वशिष्ट के उदारतापूर्ण सौजन्य और ब्रह्मतेज का वर्णन है। आजकल यद्यपि अपने ही पुरुषार्थ को अधिक महत्व दिया जाता है तथापि जिस समय की यह कथावस्तु है, ब्रह्मतेज का सहारा ढूंढना उस समय के अनुकूल है। 'अम्बा' महाभारत की कथा पर अवलम्बित है। इसमें प्रासङ्गिक रूप से विवाह की समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

भट्टजी का 'दाहर' खलीफा द्वारा सिंध की पराजय से सम्बन्ध रखता है। इसमें वीररस की प्रधानता है। भट्टजी का 'कमला' नाम का नाटक आधुनिक

काल से सम्बन्ध रखता है। उसमें राजनीति के साथ रोमांस भी है। इसमें किसानों का पक्ष लेकर जमींदारी प्रथा के खिलाफ आन्दोलन की छाप है। 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' दोनों गीत नाट्यों में भाव का प्राधान्य है और दोनों में ही पश्चाताप की भावना दृष्टिगोचर होती है। हाल में उनका 'राधा' नाम का एक भाव-नाट्य और निकला है।

श्री सुदर्शनजी ने भी कई अच्छे नाटक लिखे हैं उनमें 'अञ्जना' ने बहुत ख्याति पाई है। आपने 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' नाम का एक प्रहसन भी लिखा है। हाल में आपका 'भाग्य-चक्र' निकला है। इसमें प्रेम और वैराग्य का संघर्ष है। इसमें भौतिक आघात द्वारा स्मृति भ्रंश तथा उसको पुनर्जाग्रति की मनोवैज्ञानिक समस्या है।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'छलना' नाम के नाटक में आधुनिक युग की छाप है, उसमें थोड़ा रूपक भी है।

हाल में भास के कुछ नाटकों का अनुवाद भी हुआ है। इनमें 'पञ्चरात्र' 'अभिषेक' 'प्रतिमा' पञ्जाब से निकले हैं। इनके 'स्वप्नवासवदत्ता' के एक से अधिक अनुवाद निकले हैं। 'वध्यशिला' अनुवाद तो नहीं है किन्तु उसमें नागानन्द की छाया है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा आदि ने कुछ एकांकी नाटक भी लिखे हैं। 'पृथ्वीराज की आँखें' के अतिरिक्त उनके लिखे हुए नाटकों में 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' नाम के दो और संग्रह निकले हैं। श्री भुवनेश्वरप्रसाद के 'कारवाँ' में उनके एकांकी नाटकों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, गणेशप्रसाद द्विवेदी, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर, प्रभृति लेखकों ने अच्छे एकांकी लिखे हैं।

आजकल के नाटकों पर इब्सन (Ibsen) शा (B. Shaw) आदि का अधिक प्रभाव है। संक्षेप में हम आधुनिक नाटकों की मूल प्रवृत्तियाँ इस प्रकार बतला सकते हैं। (१) वे आकार में बहुत छोटे हो गये हैं, दो या तीन अङ्कों से ज्यादा नहीं होते। (२) वे प्रायः वर्तमान समय से ही सम्बन्ध रखते हैं और उनमें वस्तुवाद (Realism) का प्राधान्य रहता

है। (३) वर्तमान नाटक अधिकतर मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक होता जाता है। (४) उसमें रंगमंच के संकेतों का बाहुल्य रहता है, यहाँ तक कि कुर्सी, मेज तसवीर आदि का स्थान निर्दिष्ट कर दिया जाता है। (५) सङ्कलन-त्रय (Three Unities) के पालन करने की ओर भी उनकी प्रवृत्ति हो चली है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिंदूर की होली', पंडित पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' और 'अपराधी' (शर्माजी के दुविधा नाम के नाटक में शिक्षित युवतियों के विवाह की समस्या है और अपराधी में अपराध की अर्थात् अपराध के लिए व्यक्ति उत्तरदायी है या समाज) नाटकों में तथा बहुत से और नाटकों में विशेष कर एकाङ्कियों में यह प्रभाव बहुतायत से दिखाई देते हैं।

रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में जो कमी बाबू हरिश्चन्द्र के समय में थी, वह प्रायः अब भी है। साहित्य समितियों द्वारा कई नाटक अवश्य खेले गये थे। किन्तु नाटक खेलने की प्रथा ने शिष्ट समाज में जड़ नहीं पकड़ी, और अशिष्ट समाज से उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। अशिक्षितों के हाथ में साहित्यिक नाटकों की साहित्यिकता जाती रहती है फिर रङ्गमञ्च में उन्नति किस प्रकार होती ? हिन्दी नाटकों का रङ्गमञ्च से विच्छेद रहा। इसका कारण यह है कि रङ्गमञ्च एक व्यवसाय का विषय हो गया है। जिस समय हिन्दी भाषी प्रान्तों में नाटकों का पुनर्जीवन हुआ, उस समय उर्दू की तूती बोल रही थी, हास-विलास, नाच-रङ्ग, दमकते पट-पाटाम्बर में ही जनता की रुचि थी। अब देश में जागृति हुई है, भाषा की शुद्धता और शक्ति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अभिनय में मनोविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। अतुकान्त पद्य के द्वारा नाटकीय भाषा के निर्माण का उद्योग किया जा रहा है। उसमें न गद्य की शुष्कता है न पद्य की नियमबद्धता है, किन्तु उसमें पद्य का सुन्दर प्रवाह और ओज है।

हिन्दी भाषा को ऐसे नाटककारों की आवश्यकता है जो समाज के सूक्ष्म निरीक्षक हों, जो मनोविज्ञान के पण्डित हों, जो स्वयं अभिनय-कुशल हों, संगीतज्ञ हों, जो रङ्गमञ्च के सब नियमों से अभिज्ञ हों, भाषा पर जिनका

प्रभुत्व हो और जो साधारण गद्य में कविता के प्रवाह के साथ शक्ति, सुबोधता और भाव-गाम्भीर्य ला सकें। अब नाटक की उत्तमता कथावस्तु की पेचीदगी में नहीं रही वरन् मानवीय प्रकृति की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक-समस्याओं के उद्घाटन में है। हर्ष की बात है कि हमारे नाटककार इस ओर ध्यान भी दे रहे हैं।

कथा साहित्य

साहित्य के और अङ्गों के साथ उपन्यासों का भी सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही होगया था। किन्तु उस समय के उपन्यास अधिकतर बंगला अँग्रेजी आदि से अनुवादित हैं। इन अनुवादकों में गदाधरसिंह, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें हरिश्चन्द्र कालीन युग की भाषा की छाप थी। उस समय के मौलिक उपन्यासों में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' बहुत काल तक शिक्षित समाज में आदर पाता रहा। इसमें हितोपदेश की सी उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। बीच-बीच में नीति के श्लोक भी हैं। इनके अतिरिक्त बाबू राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' और पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' भी उल्लेखनीय हैं। बाबू गोपालराम (गहमरी) ने बंग-भाषा के गार्हस्थ्य जीवन सम्बन्धी कई उपन्यासों का अनुवाद किया। इन्होंने अपनी भाषा को चटपटी बनाने के लिए पूर्वी शब्दों और मुहावरों का निस्संकोच प्रयोग किया है। कवि सम्राट पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'वेनिस का बाँका' में संस्कृतगर्भित हिन्दी का परिचय दिया है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में उन्होंने बोलचाल की भाषा का कौशल दिखलाया है।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास लेखकों में बाबू देवकीनन्दन खत्री ने विशेष ख्याति पाई। उनके उपन्यासों में घटना बाहुल्य, तिलिस्म और अय्यारी की बातों की अधिकता थी। ये उपन्यास किसी दूसरी भाषा से अनुवादित नहीं थे। जनता की कौतूहल-बुद्धि की तृप्ति करने के कारण इनके उपन्यास बहुत लोकप्रिय बन गये। बहुत से उर्दू जानने वालों ने इनकी 'चन्द्रकांता संतति पढ़ने

के लिए हिन्दी का अभ्यास किया। चन्द्रकान्ता के अतिरिक्त 'काजर की कोठरी' 'कुसुमकुमरी' 'नरेन्द्र मोहनी' 'वीरेन्द्र वीर' आदि कई उपन्यास आपने लिखे। इनके कारण हिन्दी की व्यापकता बढ़ी और ऐय्यारी के उपन्यासों की एक परम्परा सी चल पड़ी। इस परम्परा के पालन करने वालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

साधारण जनता की रुचि के अनुकूल उपन्यास लिखने वालों में दूसरा नाम पं० किशोरीलाल गोस्वामी का आता है। अंगूठी का नगीना, लखनऊ की कब्र, चपला, तारा, प्राणदायिनी आदि इन्होंने साठ से ऊपर उपन्यास लिखे हैं। इनके उपन्यास थोड़े साहित्यिक अवश्य हैं पर इनमें जनता की रुचि को ऊपर ले जाने का कोई विशेष उद्योग नहीं किया गया। इनमें वासना का विलास अधिक दिखाई देता है। इन्होंने अपने उपन्यासों में कई शैलियों का प्रयोग किया है। पं० लज्जाराम मेहता ने भी धूर्तरसिकलाल, आदर्श हिन्दू आदि कई छोटे-छोटे उपन्यास लिखे। बाबू व्रजनन्दनसहाय आरा निवासी ने सौंदर्योपासक' और 'आदर्श मित्र' आदि चार उपन्यास लिखे। इनमें घटना वैचित्र्य और चरित्र चित्रण की अपेक्षा भावावेश की मात्रा अधिक है।

प्रेमचन्द

नये ढङ्ग के चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने वालों में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्दजी (जन्म सं० १९३७) का नाम सबसे पहले आता है। इनका असली नाम मुन्शी धनपतराय था। पहले ये उर्दू में गल्पें लिखते थे। पीछे से इन्होंने हिन्दी को अपनाया और बड़े सुन्दर उपन्यासों की सृष्टि की। इनके पूर्व चरित्र-चित्रण पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था। इन्होंने अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण रचा जो कठपुतली की भाँति उपन्यासकार के हाथ के इशारे पर नहीं नाचते वरन् अपने व्यक्तित्व के बल पर स्वाभाविक विकास को प्राप्त होते हैं। इनके पात्र चलते-फिरते, परिचित से प्रतीत होते हैं। प्रेमचन्दजी यद्यपि आदर्शवाद की ओर झुके हुए हैं और कभी-कभी वे आदर्शवाद की झोंक में अपने पात्रों को स्वाभाविकता की सीमा से बाहर उठा

ले जाते हैं (जैसे 'सेवासदन' की सुमन) तथापि उनके पात्रों के चरित्र का उत्थान-पतन एक क्रम से होता है।

प्रेमचन्दजी के परिस्थिति-चित्रण बहुत ही वास्तविकता लिये हुए हैं। ग्रामीण दृश्यों के चित्रण करने में उन्होंने श्लाघनीय कौशल दिखलाया है। पुलिस के अफसरों के अत्याचारों के उद्‌घाटन में प्रेमचन्दजी ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। कर्मभूमि में राजनैतिक आन्दोलन का बड़ा सजीव चित्रण है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी कला में कृत्रिमता नहीं है। वे जीवन के मार्मिक अंशों को समझ सके हैं और उनको अपने पाठकों के सामने रखकर उनकी सहृदयता प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। वे जीवन के तथ्यों को सुलझे हुए शब्दों में सूक्ति-रूप से रखने में सिद्ध-हस्त हैं।

मुन्शी जी ने प्लेटफार्म से राष्ट्र की सेवा नहीं की किन्तु उनकी करुणा-कलित लेखनी ने दीन-दुखियों की मर्म-भरी मूक-वेदना को मुखरित कर लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया। मुंशीजी ने निम्न कोटि के लोगों में मानवता के दर्शन कराये हैं। वे बिगड़े को सुधारने में विश्वास रखते हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि प्रेमचन्द जी अपने उपन्यासों में से उपन्यासकार का रूप छोड़ कर उपदेशक और प्रचारक का रूप धारण कर लेते हैं। यह बात किसी अंश तक ठीक है, किन्तु विशेष स्थलों को छोड़कर उन्होंने ऐसा प्रोपेगेंडा नहीं किया जो पाठकों को अरुचिकर हो जाय। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि आजकल की भाँति वे 'कला-कला के अर्थ' मानने वालों में न थे। जिस समय उन्होंने लिखना शुरू किया था उस समय एक धार्मिक उत्थान की प्रवृत्ति चल रही थी, उसका थोड़ा बहुत प्रभाव उन पर था।

अध्ययनशील पाठकों के लिये उनकी रचनाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी में—(१) प्रतिज्ञा और (२) वर-दान। दूसरी श्रेणी में—(१) सेवा सदन (२) निर्मला और (३) गबन। तीसरी श्रेणी में—(१) प्रेमाश्रम (२) रंगभूमि (३) कायाकल्प (४) कर्मभूमि और (५) गोदान। पहली श्रेणी की रचनायें आरम्भिक काल की हैं। उनका महत्व यही है कि उनसे मालूम होता है कि प्रेमचन्द शुरू में क्या थे? दूसरी

श्रेणी की रचनाओं में सामाजिक समस्याओं को प्रधानता दी गई है। 'सेवा-सदन' में दहेज-प्रथा 'निर्मला' में वृद्धावस्था में दूसरे विवाह और शंका और अविश्वास के दुष्परिणाम और 'गबन' में गहने की चाह के बुरे फल को दिखाया गया है। इन रचनाओं में लेखक की तीव्र पर्यवेक्षण-शक्ति का जगह जगह बोध होता है। उदाहरणार्थ गबन में भय की मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण किया है। तीसरी श्रेणी की रचनाओं में प्रेमचन्द दूसरे रूप में दर्शन देते हैं। इनमें वे जीवन के एक अंश के नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवन के द्रष्टा हैं। उनका उपन्यास भी किसी वर्ग विशेष के लिये सीमित नहीं रहता, वरन् वे सम्पूर्ण जीवन, सम्पूर्ण समाज को अपनी प्रतिभा के प्रकाश में हमारे सामने अङ्कित कर देते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द कहानी लिखने में भी उतने ही सफल हुये हैं जितने उपन्यास लिखने में। वरन् कुछ लोगों का तो विचार यहाँ तक है कि वे कहानी लिखने में उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुए हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में समाज के उपेक्षित लोगों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। उनकी कहानियों में घरेलू जीवन के अतिरिक्त बहुत सी सामाजिक समस्याओं के ऊपर प्रकाश डाला गया है, और समाज में अपने को बड़ा समझने वाले लोगों की कमजोरियों का बड़ा मनोरञ्जक रूप से वर्णन किया गया है। इनकी कहानियों में बड़े घर की बेटी, रानी सारन्धा, शतरञ्ज के खिलाड़ी ईदगाह आदि की बड़ी ख्याति है। इनके उपन्यास और कहानियों में मुसलमानों का चरित्र भी बड़ी सुन्दर रीति से चित्रित हुआ है। बहुत सी कहानियों में सामाजिक चित्र भी अच्छे आये है। नव-निधि, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-पचीसी, मानसरोवर (पांच भाग) आदि उनकी कहानियों के कई अच्छे संग्रह निकल चुके हैं।

प्रेमचन्दजी की भाषा चलती हुई मुहाविरेदार हिन्दी है जिसको हिन्दुस्तानी कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनके लेखन काल के आरम्भ में उनकी भाषा प्रायः दोषपूर्ण हुआ करती थी, परन्तु पीछे से वह बहुत मँज गई थी। मुंशीजी की भाषा में माधुर्य पूर्ण प्रवाह के साथ जोर है। उनकी उपमायें

बड़ी अनूठी और मनोरंजक होती हैं। मुंशीजी के पात्रों की भाषा उनकी सामाजिक स्थिति के अनुकूल बदलती रहती है। इस पर कुछ लोगों का यह आक्षेप भी है कि यदि कोई पात्र चीनी हो तो क्या उससे चीनी भाषा में बुलायेंगे। चीनी दूसरी भाषा है, उसको हिंदी में कैसे स्थान दिया जा सकता है? किन्तु कोई भाषा एक रस नहीं होती। एक भाषा को भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न रूप से बोलते हैं। मुंशीजी ने भी उसी बात को दिखलाया है। उर्दू कोई विदेशी भाषा नहीं है जिसको हिन्दी बोलने वाले न समझते हों। हाँ, कहीं-कहीं उनके मुसलमान पात्रों की उर्दू बहुत कठिन हो गई है किन्तु वह भाषा उनकी स्थिति के लोगों के बिलकुल अनुकूल है।

जयशङ्करप्रसाद

यद्यपि प्रसादजी का मुख्य क्षेत्र नाटक है तथापि उपन्यास और आख्यायिकाओं में भी उनका विशेष स्थान है। 'कङ्काल' और 'तितली' लिख कर प्रसादजी ने उपन्यास क्षेत्र में भी अपना स्थान बना लिया है। 'कङ्काल' में प्रसादजी ने आदर्शवाद की अपेक्षा, यथार्थ का अधिक परिचय दिया है। समाज के सभी प्रकार के पतित लोगों को उन्होंने संयोगवश एक ही स्थान में एकत्र कर दिया है। यद्यपि समाज में बुराई और दुःख की मात्रा कम नहीं है और लोगों की दुष्प्रवृत्तियों का चित्र खींचना अस्वाभाविक नहीं है तथापि मानव हृदय की कमजोरियों को ही देखते रहने से मनुष्य जाति के प्रति अश्रद्धा सी उत्पन्न हो जाती है, उसका प्रभाव बुरा पड़ता है। फिर भी हम यह नहीं कहते कि प्रसादजी का मूलोद्देश्य लोगों का ध्यान बुराइयों की ओर आकर्षित करना था। कङ्काल में गोस्वामीजी के उपदेश में उन्होंने हिन्दू सङ्गठन और धार्मिक एवं सामाजिक आदर्शों सम्बन्धी अपने विचारों का दिग्दर्शन कराया है। इस प्रकार उसमें भी समाज की बुराइयों के उद्-घाटन के साथ निर्माण और सुधार की ओर भी प्रवृत्ति है। प्रसादजी के 'कङ्काल' की कमी 'तितली' में अपेक्षाकृत पूर्ण हो गई है। 'तितली' में ग्रामीण दृश्यों का भी अच्छा चित्रण है और ग्रामीण समस्याओं पर

प्रकाश डाला गया है किन्तु ऐसे लोगों की ओर से है जो प्राय सुधार के लिए ऊपर से उतर कर कुछ नीचे आते हों और फिर ऊपर को चले जाते हों। प्रसादजी आख्यायिका लिखने में विशेष सफल हुए हैं। हिन्दी में वे एक प्रकार से प्रथम मौलिक कहानी लेखक कहे जा सकते हैं। प्रसादजी की कहानियों में कथानक की अपेक्षा भावों का प्राधान्य है। यही मुन्शीजी और उनकी कहानियों में अंतर बताया जाता है। प्रसादजी कवि-हृदय हैं। उनकी कहानियों में भी यह कविता स्थान-स्थान पर प्रस्फुटित होती रहती है। सुख-दुख, संयोग-वियोग, त्याग, सहानुभूति मानव-स्वभाव की इन्हीं सहज वृत्तियों की भित्ति पर प्रसादजी की कहानियों का प्रासाद निर्मित है। उनकी 'पुरस्कार' नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का अच्छा समन्वय किया गया है। प्रसादजी की व्यापक एवं गम्भीर वेदना हमें प्रत्येक के प्रति न्यायशील होने के लिए प्रेरित करती है। उन्होंने कुछ सामाजिक कहानियाँ भी लिखी हैं, लेकिन उनकी ऐतिहासिक कहानियों का मूल्य अधिक है। उनमें वे हमें बौद्ध कालीन तथा मुगल और पठान कालीन सभ्यता की सैर कराते हैं। 'आँधी' 'आकाशदीप' 'प्रतिध्वनि' और 'इन्द्रजाल' नाम के उनके कई सुन्दर कहानी संग्रह हैं। प्रसादजी की प्रायः सभी रचनाएँ प्राचीनता और ऐतिहासिकता को लिये हुए हैं। उनकी कहानियों में वातावरण का चित्रण बड़ा आकर्षक होता है।

प्रसादजी की भाषा संस्कृतगर्भित अधिक रहती है। उसमें मुहाविरों को स्थान कम मिलता है। इस बात के होते हुए भी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं आने पाया है। उसमें चमत्कार-दर्शन अधिक दिखलाई देता है। कहीं कहीं नाटकत्व भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है। उनके पात्रों की भाषा प्राय. उन्हीं की सी होती है, अर्थात् उनकी भाषा पात्रों की स्थिति के अनुकूल बदली नहीं है।

पं० विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक

आप उपन्यासकार और कहानी लेखक दोनों के ही रूप में हमारे सामने

आते हैं। 'भिखारिणी' और 'माँ' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं और 'मणिमाला' और 'चित्रशाला' कहानियों के प्रख्यात संग्रह हैं। आप उपन्यासों में उतने सफल नहीं हुए जितने कहानियों में। उपन्यासों में आपने 'माँ' में अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। आपकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। आपकी बहुत सी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। कौशिक जी की कहानियाँ वार्तालाप प्रधान हैं और उनमें मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण बहुत अच्छा हुआ है।

सुदर्शन

कहानी के क्षेत्र में आपने बड़ी प्रसिद्धि पायी है। आपकी कहानी के पात्र साधारण कोटि के लोग होते हैं। आपकी कुछ कहानियों के कथानक (जैसे अँधेरे में) राजनीतिक आन्दोलन से भी लिये गये हैं। 'जीत की हार' से हमें उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। उसमें चरित्र परिवर्तन का भी अच्छा उदाहरण मिलता है। आपकी 'न्यायमंत्री' नाम की कहानी ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है, उसमें न्याय और स्वामिभक्ति का अच्छा संघर्ष है। सुदर्शन जी शहरी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। उनकी कलम के स्पर्श से शहर के मध्यवर्गी पात्र किसान और मजदूरों के से मूक तपस्वी दिखलाई पड़ते हैं। वास्तव में सुदर्शन और कौशिक जी प्रेमचन्द जी के साथ हिन्दी कहानी साहित्य के बृहत्त्रयी में रक्खे जा सकते हैं।

वृंदावनलाल वर्मा

आप झाँसी के रहने वाले हैं और आपका बुन्देलखण्ड से विशेष परिचय है। आपने अपने 'गढ़कुण्ढार' नामक उपन्यास में इतिहास और कल्पना का बड़ा सुन्दर सामंजस्य किया है। इस उपन्यास में बुन्देलखण्ड की चौदहवीं शताब्दी की राजनीतिक स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। 'विराटा की पद्मिनी' भी उनका इसी कोटि का उपन्यास है। 'कुण्डलीचक्र' और 'संगम' इनके दो उपन्यास हैं। इनके उपन्यासों में प्रकृति-चित्रण अधिक रहता है और ये वातावरण को बड़े मनोयोग के साथ वास्तविक निर्माण

के आधार पर चित्रित करते हैं। 'कभी न कभी' नामके आपके उपन्यास में दो मजदूरों के पारस्परिक मैत्री भाव का वर्णन है। प्रसङ्गवश मजदूर जीवन की कठिनाइयों का भी दिग्दर्शन है। वर्माजी की 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' नाम के नवीन उपन्यास में सन सत्तावन के गदर का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है। उसमें कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता अधिक है।

मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव

मुन्शी प्रेमचन्द्रजी ने जिस प्रकार ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है उसी प्रकार मुंशी प्रतापनारायणजी ने शहरी जीवन के उच्च वर्ग का चित्र उतारा है। उन्होंने केवल तीन ही उपन्यास लिखे हैं, उनके नाम हैं, 'बिदा' 'विकास' और 'विजय'। तीनों में एक खल नायक या नायका है, उसकी धूर्तता का ऐसे समय पर उद्घाटन किया जाता है जब वह अपनी सफलता की चरम सीमा पर होता या होती है। तीनों में एक विशेष सीमा के भीतर 'स्त्री-स्वातन्त्र्य' का पक्ष लिया गया है। इन उपन्यासों में विदेशी रमणियाँ भी आयी हैं उनमें दो साध्वी हैं, शेष दुष्टा। विकास नाम के उपन्यास में आघात द्वारा पूर्व जन्म की स्मृतियों को जगा कर एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग सा किया गया है। उपन्यासों की मिली जुली समाज के अनुरूप ही भाषा भी कुछ मिली-जुली होगयी है। मुन्शी प्रतापनारायण ने कुछ कहानियाँ भी लिखीं हैं।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

आपने उपन्यास भी लिखे हैं और कहानियाँ भी। 'मंगल-प्रभात' और 'मनोरमा' आपके उपन्यास हैं और 'नन्दन-निकुञ्ज' और 'बनमाला' कहानियों के दो संग्रह हैं। आपकी रचनाओं में कवित्व-पूर्ण शैली का ही अधिक महत्व है। भाषा की सजावट में कहीं-कहीं पात्रों का व्यक्तित्व छिप सा जाता है। आपकी कहानियों को गद्य-काव्य कहना सत्य से बहुत दूर न होगा। आपने बाण की सी कठिन अलङ्कार और समासों से भारी-भरकम शैली का हिन्दी में अनुकरण किया है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

आपकी राजनीतिक तथा सामाजिक कहानियाँ बड़ी चुभती हुई होती हैं। आपने समाज का नग्न चित्र खींचना चाहा है और कभी-कभी मानव कमजोरियों का ऐसा चित्र उतारा है कि लोगों को अपनी कौतूहल तृप्ति करने के लिए उनकी ओर आकर्षित होना पड़ता है। आप बड़ी जोरदार भाषा लिखते हैं जिसमें बड़ा चटपटापन रहता है। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने इनकी रचनाओं को घासलेटी साहित्य में रख कर बड़ा प्रोपेगेण्डा किया था। 'चन्द हसीनों के खतूत' 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी' आपके उपन्यास हैं, तथा 'दोजख की आग' और 'इन्द्र धनुष' कहानियों के संग्रह हैं।

पं० विनोदशङ्कर व्यास

आपने बहुत छोटे आकार की भाव-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों में भाव-प्राधान्य के नाते आप प्रसाद जी की कक्षा में आते हैं। आपने मधुकरी नाम से कहानियों के दो संग्रह निकाले हैं, जिनमें सभी प्रधान-प्रधान लेखकों की चुनी हुई कहानियाँ हैं। आपने श्री ज्ञानचन्द्र जी के साझे में 'कहानी कला' पर एक अच्छी पुस्तक लिखी है।

चतुरसेन शास्त्री

'हृदय की प्यास' 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा' 'आत्मदाह' नाम के आपके चार उपन्यास हैं, और 'अक्षत' 'रजकण' 'सिंहगढ़ विजय' आदि नाम के आपके कई कहानी संग्रह निकल चुके हैं। आपकी भाषा का मुख्य गुण धारावाहिकता है। आप भी मुंशी प्रेमचन्द की सी चलती हुई भाषा लिखते हैं। आपकी कथाओं का विषय अधिकतर शृङ्गारिक है जो कहीं-कहीं अधिक कुरुचि पूर्ण हो गया है। आपकी 'अमर अभिलाषा' के खिलाफ बहुत-कुछ आन्दोलन हुआ था। उसमें विधवाओं की दशा का चित्रण है। वह चित्रण सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया और विद्रोह प्रकट करने के लिए उतना नहीं है जितना कि उद्दीपक सामग्री उपस्थित करने के लिए। पर यह बात आपकी सभी रचनाओं के बारे में नहीं कही जा

सकती। आपने ऐतिहासिक कहानियाँ बहुत अच्छी लिखी हैं। वैसे आपके वर्णन बड़े चित्ताकर्षक और भाषा बड़ी स्वाभाविक होती है। आप तद्भव शब्दों का भी प्राचुर्य के साथ व्यवहार करते हैं।

जैनेन्द्रकुमार

आपने 'तपोभूमि' (श्रीऋषभचरण के साथ) 'परख' 'सुनीता' 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' नाम के पाँच उपन्यास लिखे हैं। 'वातायन', 'एक रात', 'दो चिड़ियाँ' और 'नीलम देश की राजकन्या' आपकी कहानियों के संग्रह-ग्रन्थ हैं। केवल अनुकरण को आप कला नहीं मानते। आपके शब्दों में उपन्यास का आदर्श इस प्रकार है।

'उपन्यास में जैसी दुनियाँ है वैसी ही चित्रित नहीं होती, दुनियाँ का कुछ उठा हुआ, उन्नत, कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की भाँति घटनाओं का बयान कर जाता हो। काम से मतलब, वह दुनिया को आगे बढ़ाने में जरा भी मदद नहीं देता।' आपके वर्णन बहुत वास्तविकता लिये हुए हैं। कहीं-कहीं आप जरूरत से ज्यादा ब्यौरा देते हैं। आपके उपन्यासों में समाज के प्रति नवयुवकों की विद्रोह भावना के दर्शन मिलते हैं। फिर भी आप कोरे बुद्धिवादी नहीं हैं। आपके उपन्यासों में सामाजिक प्रयोग करने की-सी प्रवृत्ति रहती है। आपने सुनीता में पति की उदारता को पराकाष्ठा तक और प्रचलित नैतिकता के मानों के अनुकूल दोष की हद तक पहुँचा दिया है। आपने स्त्रियों के नैतिक आदर्श को रूढ़िग्रस्त कसौटी से नहीं जाँचा है।

जैनेन्द्रजी की कहानियों में भावुकता और करुणा की मात्रा अधिक रहती है और वे कुछ आन्तरिक तथ्य की ओर झुकती हुई दिखलायी पड़ती हैं। आपकी भाषा चलती हुई हिन्दी है और उसमें कहीं-कहीं दिल्ली के स्थानीय मुहावरे भी आगये हैं। कहीं-कहीं आपने अङ्गरेजी मुहावरों का अनुवाद कर दिया है। आवश्यकतानुकूल आपने उर्दू शब्दों का भी व्यवहार किया है। आपकी कहानियों में मनोवैज्ञानिक अध्ययन अधिक रहता है।

और ढालने के लिए आपने शब्दों को आगे-पीछे रखने में संकोच नहीं किया है।

शिवपूजनसहाय

आपने अपनी 'देहाती दुनिया' से कथा साहित्य में अच्छा नाम पाया है। आपकी भाषा बहुत शुद्ध और मुहावरेदार है। आपकी भाषा में माधुर्य और ओज का अपूर्व सम्मिलन दिखाई देता है। आपकी शैली परिष्कृत, तर्कपूर्ण तथा परिमार्जित है। आपकी भाषा भाव और नियमों के अनुकूल चलती है। आप प्रायः सामासिक पद लिखते हैं, और कहीं-कहीं पद्यात्मक तुकान्त भी।

उपसंहार—

वर्तमान युग के उपन्यास क्षेत्र में मुंशी प्रेमचन्द, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। आजकल उपन्यास साहित्य बहुत बढ़ गया है। प्रसादजी, निरालाजी, सियारामशरणजी गुप्त आदि कवियों ने 'कङ्काल' 'अप्सरा', 'निरुपमा', 'गोद', 'नारी' आदि अच्छे उपन्यास लिखे हैं। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का 'सितारों का खेल', श्रीनाथसिंह के 'जागरण' और भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' तथा 'चित्रलेखा', उषादेवी मित्रा के 'पिया', 'जीवन की मुस्कान' और 'पथचारी' एवं भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना', 'दो बहिनें' और 'निमन्त्रण' नाम के उपन्यास नये उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं। 'खाली बोतल' और 'ज्वार-भाटा' नाम के भगवतीप्रसाद वाजपेयी के कहानियों के संग्रह हाल ही में निकले हैं। कहानी क्षेत्र में 'उग्र', 'कौशिक' और जैनेन्द्रकुमार के अतिरिक्त सत्यजीवन वर्मा, डा० धनीराम प्रेम, अज्ञेय, पहाड़ी तथा विष्णु ने भी काफी ख्याति पायी है। श्री अज्ञेयजी हिन्दी के प्रगतिशील लेखक हैं। 'शेखर एक जीवनी' नाम का अज्ञेयजी का एक उपन्यास भी निकला है।

हाल में बङ्गला-साहित्य के रत्नस्वरूप शरत् और रवीन्द्र के उपन्यासों का अनुवाद निकला है। श्री के० एम० मुंशी का 'पाटन का प्रभुत्व' गुजराती से अनुवादित हुआ है।

स्त्री-लेखिकाओं में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के 'बिखरे मोती' नाम के कहानी संग्रह ने बड़ी प्रसिद्धि पायी है। श्रीमती शिवरानी देवी, होमवती, उषा मित्रा, कमला देवी चौधरानी, चन्द्रवती जैन आदि कई लेखिकाएँ इस क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रही हैं।

कहानी साहित्य के विषयों का वैविध्य खूब बढ़ता जा रहा है। कहानी के क्षेत्र में मनुष्य के साथ बैल और बकरे भी भारवाहक न होकर भाव क्षेत्र में मनुष्यों के बराबर स्थान लेते हैं। कहीं-कहीं पूर्वजन्म तक की भी बात छेड़ दी जाती है। पहाड़ी जी ने डाक्टरी के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये हैं जो उनके 'मौली' कहानी संग्रह में पाये जाते हैं किन्तु उनमें एक विकृत मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। कथाओं में युद्ध का भी प्रभाव परिलक्षित होने लगा है और किन्हीं-किन्हीं कहानियों में गत महायुद्ध की घटनाएँ वर्तमान युद्ध के साथ सम्बद्ध करदी गयी हैं। आजकल के उपन्यास में भावुकता की कमी तो नहीं है किन्तु विचार की सामग्री अधिक मिलती है।

जिस प्रकार मुंशी प्रेमचन्दजी गान्धीवाद से प्रभावित थे उसी प्रकार नरोत्तमप्रसाद नागर और यशपाल गान्धीवाद के प्रगतिवाद को अपने उपन्यासों में आश्रय दे रहे हैं। यशपाल के 'दादा कामरेड' में समाजवादी विचारधारा का परिचय मिलता है किन्तु वह केवल बौद्धिक ही है, क्रियात्मक रूप से उसका नायक अपने आदर्शों की अपेक्षा अपनी वासनाओं को मूर्तिमान करता है। आजकल के कथा-साहित्य में आदर्श और नीति की अपेक्षा यथार्थवाद के सहारे मनोविज्ञान को अधिक सहारा मिलता जा रहा है। अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। उनमें कहीं-कहीं मनोविश्लेषण शास्त्र (Psycho Analysis) के सिद्धान्तों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसे उपन्यासों में मनुष्य की सारी क्रियाएँ उसके उपचेतन यानी भीतरी मन की तहों (Sub-consciousness) में दबी हुई वासनाओं के फलस्वरूप दिखायी जाती हैं। नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' नाम के उपन्यास में मनोविश्लेषण का पर्याप्त पुट है किन्तु उसमें ऐसा मालूम होता है कि

रीतिकालीन कविता की भाँति मनोविज्ञान के उदाहरण सप्रयत्न लाये गये हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित ऐतिहासिक उपन्यासों में राहुलजी का 'सिंह सेनापति' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने प्राचीन वातावरण में गणतन्त्र राज्यों के सहारे मार्क्सवादी सिद्धान्तों का उद्घाटन किया गया है।

यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिकता के आधार पर प्राचीन नैतिक भाव अपनी नैतिकता खो बैठे हैं। आजकल का उपन्यासकार अन्तः और बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन कर कर्म के अन्तः स्रोतों पर प्रकाश डालता है और इस प्रकार अपराधी को परिस्थितियों का शिकार बतलाकर उनके साथ सहानुभूति प्रकट करता है। आजकल व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक दोषी ठहराया जाता है। यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं मर्यादा का उल्लंघन कर गयी है। पाप-पुण्य के बीच की रेखा सिद्धान्त रूप से मिटायी जाने का प्रयत्न किया जा रहा है। भगवतीचरण वर्मा के चित्रलेखा नाम के उपन्यास में इसका बड़ा विशद विवेचन है। उनके 'टेढ़ेमेढ़े रास्ते' में एक ताल्लुक़ेदार के तीन लड़के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। उसमें गान्धीवाद, समाजवाद और आतङ्कवाद का तुलनात्मक अध्ययन मिलजाता है। यद्यपि तीनों ही लड़के अपने जीवन में विफल हुए हैं तथापि उन्होंने अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने-अपने पंथ का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया है। सर्वदानन्द वर्मा के नरमेध में लेखक का उद्देश्य तो समाज-सुधार है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसके नायक की सृष्टि सामाजिक आधार के भङ्ग करने के लिए ही हो। यह अवश्य मानना होगा कि समाज बहुत सी अनीतियों को जन्म देता है किन्तु नीति को तोड़ना अनीति का इलाज नहीं है।

आजकल के कहानी लेखक उपदेश देने की अपेक्षा जीवन के दर्शन कराना अधिक वाञ्छनीय समझते हैं और जीवन से प्रेरित आत्माभिव्यञ्जन (Self-expression) को अपना ध्येय मानते हैं। हमारे साहित्य का यह अंग खूब पुष्ट हो रहा है।

निबन्ध

निबन्ध गद्य का मुख्य अंग है तथापि उसके साहित्य का यथोचित

विस्तार नहीं हुआ है। निबन्ध छोटे और बड़े सभी विषयों पर कई प्रकार के हो सकते हैं। निबन्ध लेखक एक विशेष निजीपन के साथ अपने विचार को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करता है।

निबन्धों का इतिहास भी हरिश्चन्द्र युग से आरम्भ हुआ है। इस समय खूब चटपटे लेख लिखे गये थे। उन लेखों में चटपटेपन के अतिरिक्त थोड़ा बहुत तथ्य निरूपण भी रहता था। उस समय के लेखकों में हिन्दू-सभ्यता और त्यौहारों की अच्छी विवेचना रही। इन लेखों में देश की भावनाओं एवं उमंगों की झलक मिलती थी और वे अधिकांश में भावात्मक और वर्णनात्मक होते थे। तत्कालीन लेखकों की प्रवृत्ति धार्मिक होते हुए भी समाज-सुधार की ओर थी। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक निबन्धों में हास्य-व्यंग का पुट देकर उन्हें काफी सजीव और रोचक बना दिया था। जिन्दा दिली उस काल का व्यापक गुण था। उस समय के लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और पं० अम्बिकादत्त व्यास मुख्य हैं। इनका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया जाचुका है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १९२७—१९९५)

आपके समय में 'सरस्वती' द्वारा स्फुट निबन्धों की संख्या बढ़ी और उनमें विचार-गाम्भीर्य भी बढ़ा। स्वयं द्विवेदीजी ने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से बेकन के अँग्रेजी निबन्धों का अनुवाद निकाला। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद 'निबन्धमालादर्श' नाम से निकाला।

आचार्य महावीरप्रसाद के मौलिक लेखों के संग्रह 'साहित्यसीकर' और 'रसज्ञ-रंजन' नाम से निकले हैं। अब तो उनके सरस्वती में लिखे हुए लेखों के कई नाम से बहुत से संग्रह निकल चुके हैं। द्विवेदीजी के लेख विचारात्मक श्रेणी में आयेंगे। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक रहते हैं। द्विवेदीजी की शैली छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा एक बात को थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ कहकर समझाने वाली व्यासप्रधान शैली है। द्विवेदीजी ने जहाँ कुछ व्यंग्य-विनोद किया है वहाँ उर्दू के भी शब्द आगये हैं।

पं० माधवप्रसाद मिश्र—(सं०१९२८-१९६४) ये 'सुदर्शन' पत्र के सम्पादक थे। इनकी भाषा गम्भीर तथा शान्त थी। इनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारावाहिक शैली पर चलते थे। इन में देशभक्ति की भावना काफी रहती थी।

गोपालराम 'गहमरी'—आपने भी उपन्यास क्षेत्र के साथ-साथ निबन्ध-साहित्य की पूर्ति की है। आपकी भाषा बड़ी चंचल, चटपटी और मनोरंजक होती है। आप शब्द-चित्र खींचने में बहुत सिद्धहस्त हैं।

पं० गोविंदनारायण मिश्र—आपके निबन्ध बड़े पाण्डित्यपूर्ण होते थे। आप साधारण विषयों को भी उच्च कोटि की भाषा में व्यञ्जित करना चाहते थे। आपके लिये भाषा भाव-प्रकाशन का माध्यम मात्र न होकर स्वयं एक साध्य वस्तु थी। हिन्दी में आपने बाण और दण्ड के गद्य का आदर्श उपस्थित करने की कोशिश की है। आपकी भाषा में संस्कृतपन तो होता ही था किन्तु जब तथ्य-निरूपण करते थे तब शब्दाडम्बर की मात्रा बहुत कम हो जाती थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९४१—१९९८)

आपके लेख बड़े गम्भीर और विचारपूर्ण हैं। आपके कुछ लेखों का संग्रह 'विचार-वीथी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसमें 'प्रेम' 'घृणा' 'कविता' आदि विषयों पर बहुत सी विचारपूर्ण निबन्ध निकले हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म भेद बतलाये हैं। विचार-वीथी के निबन्धों के साथ साहित्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले साहित्यिक कुछ और निबन्ध जोड़ कर नया संग्रह 'चिन्तामणि' के नाम से निकला है। यह मंगलाप्रसाद पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ है। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक व्यवहार हुआ है। बहुत ही नपे-तुले शब्द रखे गये हैं। प्रत्येक शब्द अपनी विशेषता और महत्व रखता है। आपके लेखों में कहीं-कहीं गम्भीर हास्य की एक क्षीण रेखा सी दिखलाई पड़ती है। निबन्ध एक केन्द्रीय भाव से आरम्भ होते हैं, जिसकी पीछे विस्तृत व्याख्या करदी जाती है। आपकी विचारधारा बड़ी शृंखलाबद्ध और तर्कपूर्ण रहती

है। आपकी रचनाएँ समास-शैली के अन्तर्गत मानी जायँगी। आचार्य शुक्लजी ने जो विचारात्मक निबन्धों का आदर्श बतलाया है वह उनकी शैली में पूर्णतया चरितार्थ होता है। वह आदर्श इस प्रकार है:—

'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दब-दबा कर ठूँसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड के लिये हो'। शुक्लजी ने कहीं-कहीं जीवन से उदाहरण देकर और कहीं मोटी चुटकियाँ लेकर इस शैली को नितान्त शुष्क होने से बचाया है। प्रतिपादन की मौलिकता, अपने पक्ष का जोरदार समर्थन तथा हास्य-व्यङ्ग का पुट उनकी शैली को एक निजीपन प्रदान कर निबन्धों को नितान्त विषय-प्रधान होने से बनाये रखते हैं। आपके बहुत से वाक्य सूक्ति-रूप धारण कर लेते हैं।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास (१६३२–२००२)

आपने प्रायः गम्भीर विषयों पर ही लिखा है। आपने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं और बहुत से अछूते विषय हाथमें लिये हैं। आपकी भाषा में अधिकाँश तत्सम और अपेक्षाकृत कम के साथ तद्भव दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। किन्तु फारसी, अरबी के शब्द कम हैं। संधि या समास के सहारे बड़े-बड़े शब्द बनाने की प्रवृत्ति बाबू साहब की शैली में नहीं है। लोकोक्तियों और मुहावरों का व्यवहार भी आपने कम किया है। आपने विषय को समझाने के लिये उपमा और रूपकों से काम लिया है। विषयों के गाम्भीर्य के कारण आपकी शैली में कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गई है। बाबू साहब ने हिन्दी भाषा को आधुनिक सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में बहुत-कुछ योग दिया है। आपने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा हिन्दी की जो सेवायें की हैं वे चिरस्मरणीय रहेंगी। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य भी आपने पर्याप्त मात्रा में किया है और 'साहित्या-लोचन' लिख कर हिन्दी भाषा की एक बड़ी कमी पूरी करदी है।

प० पद्मसिंह शर्मा—पण्डितजी की भाषा बड़ी सजीव और ओज-

पूर्ण है। आपके कुछ लेखों का संग्रह 'पद्म-पराग' में मिलता है। आपकी भाषा में उर्दू-फारसी के प्रयोग प्रायः मिलते हैं। भाषा में हास्य-व्यंग्य की मात्रा अधिक रहती है किन्तु जहाँ सच्ची करुणा का विषय होता है वहाँ आप गम्भीर हो जाते हैं।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—आपने कई हास्यरस पूर्ण भाषण दिये जो लेख के रूपमें निकल चुके हैं। 'अनुप्रास का अन्वेषण' आदि आपके कई लेख बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। अपनी हास्यप्रियता के कारण आप हास्यरसावतार कहे जाते थे।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—(सं० १६४०—१६७७) आपने जयपुर से 'समालोचक' नाम का एक पत्र निकाला था और उसमें आपने बड़े ही अनूठे लेख लिखे थे। आपकी शैली अत्यन्त मार्मिक और पाण्डित्य-पूर्ण रहती थी। प्रभावोत्पादक हास्य की अभिव्यञ्जना के सहारे आपने पाठकों के हृदय पर स्थायी अङ्क छोड़ा है। आपने व्याकरण जैसे रूक्ष विषयक लेखों में भी विनोद और आकर्षण भर दिया है। आपकी भाषासुथरी हुई और चमत्कार-पूर्ण है। आपने प्राचीन हिन्दी के सम्बन्ध में बड़े गवेषणापूर्ण लेख लिखे हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह—अध्यापकजी पर स्वामी रामतीर्थ का प्रभाव बहुत अधिक दिनों तक रहा है। आप स्वभाव से ही भावुक थे और स्वामीजी के सत्सङ्ग ने उनकी भावुकता को और भी गहरा कर दिया। आपके गद्य-लेखों में काव्य की सी भावुकता रहती है। आप जो कुछ लिखते हैं बड़े जोर के साथ लिखते हैं और बड़े निर्भीक होकर। जिस बात को आप समाज के स्वीकृत विचारों के विरुद्ध समझते हैं उसके लिखने में जरा भी संकोच नहीं करते। आपकी भाषा में सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग रहता है और उसमें कला का प्रयत्न नहीं दिखलाई पड़ता। स्वाभाविकता ही उसका विशेष गुण है। उसमें कहीं-कहीं बड़े सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग पाये जाते हैं। अध्यापकजी ने यद्यपि बहुत थोड़ा लिखा है तथापि जो कुछ लिखा है वह बहुत उच्चकोटि का है।

निबन्ध-साहित्य क्रमशः उन्नति करता जा रहा है। यद्यपि पुस्तक-रूप

में निबन्धों के संग्रह कम निकले हैं, तथापि पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी बड़ी उच्चकोटि के निबन्ध निकल जाते हैं। मासिक पत्रिकाओं में सरस्वती, माधुरी, विशाल भारत, विश्वमित्र, सुधा, चाँद, वीणा, साहित्य-सन्देश आदि द्वारा हिन्दी-साहित्य की अच्छी सेवा हो रही है। उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री प्रभाकर माचवे, श्री सियारामशरणजी गुप्त, श्री नलिनीमोहन सान्याल, श्री निराला, श्री सत्येन्द्रजी, श्री नगेन्द्रजी आदि कई लेखकों ने अच्छे-अच्छे निबन्ध लिख कर गद्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के भाव-प्रधान ऐतिहासिक-निबन्ध इतिहास को भावुकतापूर्ण शैली में प्रस्तुत करते हैं। इस सूची के अधिकांश लेखकों के निबन्ध आलोचनात्मक हैं। श्री सियारामशरणजी के 'झूठ-सच' नाम के संग्रह के निबन्धों में एक सुखद निजीपन और हल्कापन है। जैनेन्द्रजी के लेखों में भी एक विशेष व्यक्तित्व की झलक मिलती है, किन्तु उनमें कहीं-कहीं विश्लेषण बुद्धि की मात्रा कुछ अधिक हो जाती है। निबन्ध गद्य का मूल अङ्ग है। बड़े खेद की बात है कि अपने उच्चपद के अनुकूल हिन्दी में निबन्ध साहित्य की उन्नति नहीं हुई है।

समालोचना

यद्यपि 'सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास' जैसी आलोचनात्मक सूक्तियाँ तो बहुत काल से वर्तमान हैं तथापि हिन्दी में वर्तमान ढंग की समालोचना का सूत्रपात हरिश्चन्द्र-युग से हुआ है। पं० बद्रीनारायणजी चौधरी ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में कई समालोचनात्मक लेख निकाले। पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति के साथ-साथ समालोचना शैली में भी उन्नति होती गयी। कुछ समालोचनाएँ पुस्तक-रूप में भी लिखी हुई हैं। स्वनामधन्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक में कालिदास के ग्रन्थों की निर्णयात्मक रीति से समालोचना लिखी और

'विक्रमाङ्क देव चरित चर्चा' और 'नैषधचरित चर्चा' नाम की पुस्तकों में परिचयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किये।

लिखित ग्रन्थों के रूप में मिश्र-बन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि बहुत से लोग उनके निर्णयों से सहमत नहीं हैं, तथापि मिश्र-बन्धुओं ने उस समय के लिए बहुत अच्छा काम किया। उन्होंने कवियों की भाषा, विषय तथा कला-सम्बन्धी विशेषताओं को बतलाने के अतिरिक्त हिन्दी के नवरत्नों का मूल्य भी निर्धारित करने का उद्योग किया। आप लोगों ने बिहारी को देव से नीचा स्थान देकर एक विवाद खड़ा कर दिया, उससे साहित्य में कुछ सजीवता आगयी।

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रन्थ में बिहारी की तुलनात्मक समालोचना निकाली। उसमें आपने बिहारी की उत्कृष्टता दिखायी। यद्यपि उनकी समालोचना में पक्षपात खींचतान और महफिली दाद-सी दिखलायी पड़ती है (जैसे बिहारी की कविता शक्कर की रोटी है जिधर से तोड़ो मीठी है) और इस कारण वह कहीं-कहीं (Impressionist criticism) प्रभाववादी आलोचना का रूप धारण कर लेती हैं। तथापि वह पाण्डित्य पूर्ण है। उससे बिहारी के सम्बन्ध में लोगों की जानकारी बहुत-कुछ बढ़ गई है और उसी के साथ गाथा साहित्य से भी हिन्दी-भाषा भाषियों का परिचय हुआ है। उनकी आलोचना केवल प्रभाववादी ही नहीं है अर्थात् उन्होंने केवल अपने मन को अच्छी लगने वाली बात ही नहीं कही है वरन् उसमें शास्त्रीय गुण भी दिखलाये हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने बिहारी को पूर्ववर्ती कवियों से श्रेष्ठ बतलाने में कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत खींचतान की है। आपकी आलोचनाओं में कुछ व्यंग्य की भी मात्रा रहती है उसके कारण उनमें एक विशेष सजीवता आजाती है किन्तु जब वे किसी एक ही आदमी के पीछे पड़ जाते हैं (जैसे पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के) तब उनका व्यंग्य अनुदारता की कोटि में पहुँच जाता है। देव और बिहारी के विवाद के सम्बन्ध में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है। आपने यद्यपि देव का पक्ष लिया है तथापि बिहारी

के महत्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। बिहारी को, उनके छोटे छन्दों के कारण, जुही की कली कहा है तो देव को कमल का फूल ठहराया है। आपकी मतिराम ग्रन्थावली में भी तुलनात्मक तथा शास्त्रीय आलोचनाओं के अच्छे नमूने मिलते हैं। लाला भगवानदीन ने भी बिहारी का पल्ला भारी दिखाने के लिये 'बिहारी और देव' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

हाल ही में श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक निकली है। उसमें बिहारी की भाषा, उनकी भक्तिभावना, भाव-व्यंजना आदि बातों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उन्होंने बिहारी के कुछ शास्त्रीय दोष भी दिखाये हैं। शिलाकारी जी ने 'बिहारी-दर्शन' नाम की अच्छी पुस्तक लिखी है जिसमें बिहारी पर किये जाने वाले कुछ आक्षेपों का उत्तर दिखाया गया है।

यहाँ पर संक्षेप में यह बतला देना आवश्यक है कि समालोचना चार प्रकार की होती हैं। (१) प्रभाववादी (Impressionist) आलोचना जो केवल आलोचक के मन पर पड़ा हुआ प्रभाव अर्थात् वह उसे अच्छी लगी या बुरी लगी, बतलाती है। उसमें आलोचक की रुचि की प्रधानता रहती है। वह कोई कारण नहीं देता। (२) शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) जो भरत मुनि, अभिनव गुप्त, काव्य प्रकाश कर्ता मम्मट, साहित्य दर्पण के कर्ता विश्वनाथ, दशरूपक के कर्ता धनञ्जय आदि के बनाये हुए नियमों के आधार पर आलोच्य पुस्तक के गुण दोष निरूपण कर उसे अच्छा या बुरा ठहराती है। आचार्य द्विवेदी जी की तथा मिश्र-बन्धुओं की आलोचनायें अधिकांश में इसी तरह की हैं। (३) जिस विवेचन द्वारा काव्य के आदर्श, उसके अंगों का परिचय, और उन आदर्शों के अनुकूल नियमों का ज्ञान मिलता है उसे सैद्धान्तिक (Speculative) आलोचना कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक आलोचना का आधार होती है। हिन्दी में डा० श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन, लेखक का सिद्धान्त और अध्ययन, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की रस मञ्जरी और

अलङ्कार मञ्जरी इसी प्रकार के ग्रन्थों में हैं। (यूरोप में अरस्तू के सिद्धान्तों का बहुत मान है, वैसे अब तो वहाँ पृथक-पृथक वादों के अनेकों आचार्य हैं) इस प्रकार की आलोचना में व्यापक लोक-रुचि के अनुसार ही नियम और व्यवस्था दी जाती है। (४) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive Criticism) इसमें आलोचक न तो प्रभाववादी आलोचकों की भांति अपने को प्रधानता देता है, और न निर्णयात्मक आलोचकों की भांति आचार्यों को प्रधानता देता है। क्योंकि आचार्यों के सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती साहित्य पर ही आधारित होते हैं, इसलिए वह नये साहित्य-स्रष्टाओं पर लागू नहीं हो सकते, वरन् वह कवि को ही प्रधानता देता है, वह कवि की आत्मा में प्रवेश कर उसके आदर्शों के अनुकूल उसकी व्याख्या करता है, वह कवि (तथा लेखक) और पाठक के बीच में दुभाषिये का काम करता है। प्राचीन टीकायें इसी प्रकार की आलोचनाएँ होती थीं। आज कल आचार्य शुक्ल जी की लिखी हुई तुलसीदास, सूरदास और जायसी की आलोचनाएँ इसी प्रकार की हैं, इनमें थोड़ा लोकरत्ता के नैतिक मूल्य का भी समावेश रहता है। इस प्रकार की आलोचना में ऐतिहासिक आलोचना द्वारा कवि के समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति और उसके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। उसके वैयक्तिक चरित्र पर आधारित उसकी मानसिक स्थिति के सहारे भी उसकी कृतियों को समझने का प्रयत्न किया जाता है। इसको मनोवैज्ञानिक आलोचना कहते हैं।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक आलोचना में मनोविश्लेषण (Psycho analysis) के सहारे लेखक के मन की भीतरी तहों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। नगेन्द्रजी, अज्ञेय जी आदि की आलोचनाओं में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

प्रगतिवाद के झण्डे के नीचे अब मार्क्सवादी आलोचना का प्रचार हो रहा है। इस प्रकार की आलोचना, कला को इतनी मुख्यता नहीं देती जितना कि किसान-मजदूरों, दलितों और शोषितों की भौतिक आवश्यकताओं को। वह वर्गहीन समाज के पक्ष में है। इसी ध्येय को अग्रसर करने के मानदण्ड से वे ग्रन्थों का मूल्याङ्कन करते हैं। इस प्रकार के आलोचकों में शिवदानसिंह

चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवतशरण उपाध्याय प्रभृति हैं।

इस युग में सब से अधिक प्रभाव आचार्य शुक्लजी का है। यद्यपि आजकल के आलोचकों में शुक्लजी का सा नीति और लोक-संग्रह का आग्रह नहीं है तथापि काव्य का विश्लेषण थोड़े बहुत अन्तर के साथ उनके ही प्रदर्शित मार्गों पर हो रहा है।

आजकल समालोचना साहित्य में खूब वृद्धि हो रही है, और कवियों पर आलोचनात्मक ग्रन्थ निकले हैं। 'कविवर रत्नाकर' पण्डित कृष्णशङ्कर शुक्ल का एक उत्तम ग्रन्थ है जिसमें लेखक ने विभाव-चित्रण और अलङ्कारों तथा रसों की अच्छी विवेचना की है। उसमें उनकी भाषा की भी अच्छी विवेचना हुई है। अखौरी गङ्गाप्रसादसिंह ने 'पद्माकर की काव्य साधना' लिखकर पद्माकर पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'केशव की काव्यकला' में केशवदास के आचार्यत्व और कवित्व पर प्रकाश डाला गया है, उसमें उनके आचार्यत्व का शास्त्रीय विवेचन भी है।

श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र कृत 'मीरा की प्रेम साधना' भी एक बहुत उत्तम ग्रन्थ है। उसमें मीरा के विरह-प्रधान गीत-काव्य का बड़ा सुन्दर विवेचन है। श्री रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ में हठयोग एवं रहस्यवाद के सिद्धान्तों पर और विशेषकर कबीर के सिद्धान्तों पर अच्छा आलोक डाला है। श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने महादेवी वर्मा पर एक छोटी सी पुस्तक लिखकर उनके काव्य का अच्छा विवेचन किया है। किन्तु आधुनिक कवि सीरीज की 'महादेवी वर्मा' नाम की पुस्तक की स्वयं कवियित्री जी के द्वारा लिखी हुई भूमिका विशेष महत्व की है। इस प्रकार के भूमिका सहित संग्रह पंत, रामकुमार वर्मा और गोपालशरणसिंह के भी निकल चुके हैं।

कवियों की आलोचना में 'सुमित्रानन्दन पन्त' 'साकेत : एक अध्ययन' 'गुप्तजी की कला' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'सुमित्रानन्दन पन्त' और 'साकेत : एक अध्ययन' श्री नगेन्द्रजी के लिखे हुए हैं और 'गुप्तजी की कला' श्री सत्येन्द्रजी की कृति है। नगेन्द्रजी की आलोचना शैली सर्वथा नयी है। उसमें भावुकता के साथ विश्लेषण-बुद्धि और शास्त्रीय विवेचन से काम

लिया गया है। सुमित्रानन्दन पन्त में उन्होंने पन्तजी की भाषा और कला के चमत्कार का अच्छा विश्लेषण किया है। उसमें छायावाद की व्याख्या बड़े मौलिक ढङ्ग से की गई है। 'साकेत : एक अध्ययन' में गुप्तजी की कला के साथ उनकी विचार-धारा के सांस्कृतिक मत का भी अच्छा विवेचन है। प्रसादजी के सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य तैयार हो रहा है। इन पुस्तकों में नन्द दुलारे वाजपेई का जयशंकरप्रसाद, श्री रामनाथ सुमन का प्रसाद की काव्य-साधना तथा गङ्गाप्रसाद पाण्डेय का 'कामायिनी : एक परिचय' विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

तुलसी के सम्बन्ध में आलोचनात्मक साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई है। 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय भाग में तुलसी के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण लेख निकले हैं उनमें श्री रामचन्द्र शुक्ल की प्रस्तावना 'तुलसीदास' नाम से अलग पुस्तक रूप में निकल गयी है। व्याख्यात्मक समालोचना में वह एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसमें गोस्वामीजी के भावों की एक प्रकार से गद्य में पुनः सृष्टि की गई है। रायबहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी के 'तुलसीदास' में गोस्वामी की जीवनी पर मूल गुसाईं चरित के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। गोस्वामीजी कीं कला पर भी उसमें मार्मिक विवेचन है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के 'तुलसी के चार दल' ने भी तुलसीसाहित्य का महत्व बढ़ाया है। आपने तुलसीदासजी के जानकी-मङ्गल, पार्वती-मङ्गल, रामलला नहछू और बरवै रामायण पर कई दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला है। पुस्तक में बहुत-सी रस और अलङ्कार-सम्बन्धी पठनीय सामग्री का समावेश किया गया है। मिश्र-बन्धुओं के पार्वती-मङ्गल, नहछू आदि ग्रन्थों के प्रामाणिक होने में जो शंकाएँ उपस्थित की हैं, इस पुस्तक में उनका बड़ा सफलता के साथ निराकरण किया गया है।

श्री माताप्रसाद गुप्त ने 'तुलसी-संदर्भ' में मूल गुसाईं चरित को अप्रामाणिक सिद्ध करने का यत्न किया है। इनकी भी विवेचना बहुत मार्मिक है। तुलसी-कृत ग्रंथों के काल निर्णय के लिए इसमें बहुत उपादेय सामग्री है। अब वह उनकी तुलसीदास नाम की पुस्तक में सम्मिलित हो गई है। इस

में तुलसी से सम्बन्धित ऐतिहासिक बातों का तथा उनकी हस्त लिखित ग्रंथों की प्रामाणिकता का अच्छा विवेचन हुआ है। श्री रामदास गौड़ की लिखी हुई रामचरित मानस की भूमिका भी तुलसी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। उसमें वैज्ञानिकता के साथ भावुकता का भी मिश्रण है। भक्तों के ग्रन्थों के अध्ययन के लिये थोड़ी भावुकता आवश्यक भी है।

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'तुलसी दर्शन' लिखकर गोस्वामीजी के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अच्छा प्रकाश डाला है। आपने उनको अद्वैतवादी सिद्ध किया है।

सूर के वियोग-श्रृङ्गार का भ्रमर-गीत सार की भूमिका में आचार्य शुक्लजी ने बड़ा विशुद्ध और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। वियोग, शृङ्गार तथा प्रेम प्रधान प्रबन्ध काव्य के विवेचन के लिए जायसी ग्रन्थावली की भूमिका एक पठनीय सामिग्री उपस्थित करती है। श्री नलिनीमोहन सान्याल का 'भक्तवर-सूरदास' तथा शिखरचन्द जैन का 'सूर एक अध्ययन' अच्छे आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। सान्याल महोदय का दृष्टिकोण अधिकतर धार्मिक होते हुए भी साहित्यिक है। शिखरचंद जैन की पुस्तक विद्यार्थियों को अधिक उपयोगी है। श्री रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी लिखित 'सूर साहित्य', की भूमिका में सूर के काव्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों का जैसे भक्ति का इतिहास, बल्लभाचार्य के सिद्धांत, सूरसागर से भागवत की तुलना आदि मार्मिक ढङ्ग से विवेचन है। इसमें रस-सिद्धान्त के अनुकूल संचारी भावों और मनोदशाओं का भी सूर से उदाहरण देकर विवेचन किया गया है। अब इसी प्रकार की पुस्तक तुलसी पर भी निकल गई है। श्री नलिनी-मोहन सन्याल के उच्च विषयक निबंध में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य में तथा श्री सत्येन्द्रजी की साहित्य की झाँकी में वैष्णव साहित्य के सम्बंध में पठनीय सामग्री मिलती है। सान्यालजी की पुस्तक में वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास तथा विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक में सूर का विद्यापति और चण्डीदास के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। सत्येन्द्रजी की पुस्तक

में वैष्णवधर्म के इतिहास के साथ कुछ नई उद्भावनाएँ भी दी गई हैं। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों के विरुद्ध सूरदासजी ने श्रीकृष्णजी को परब्रह्म नहीं वरन् विष्णु का ही अवतार माना है। तुलसी ने तो अपने राम को 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' कहा है किन्तु सूर ने कृष्ण के प्रसंग में जहाँ त्रिदेवों का उल्लेख किया है वहाँ वे विष्णु को नहीं लाये वरन् केवल शिव और ब्रह्मा को ही लाये हैं। इस सम्बन्ध में श्री कन्हैयालाल सहल की समालोचनाञ्जलि में सूरदास और शुद्धाद्वैत शीर्षक लेख भी पठनीय है।

मध्यकालीन साहित्य एवं वर्तमान काव्य-धारा के सम्बंध में कई ग्रंथ निकले हैं जिनमें श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'हिंदी साहित्य विमर्श' का स्थान ऊँचा है। आपने 'विश्व-साहित्य' में साहित्य के द्वारा मानव-जाति में प्रेम और ऐक्य-भाव स्थापित होने का एक दिव्य संदेश दिया है। इस ढंग की पुस्तकों में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'कवि और काव्य' 'संचारिणी' तथा 'युग और साहित्य' और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' अच्छी हैं। श्री शान्तिप्रियजी की आलोचनाओं में थोड़ा काव्य भी मिला रहता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध और महत्व बतलाकर समालोचना के कार्य में एक प्रकार की सुगमता उत्पन्न करदी है। डा० रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' के अनुवाद ने लोगों की साहित्य और कला सम्बन्धी रुचि को परमार्जित करने में बहुत कुछ योग दिया है।

मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' लिख कर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने में भगीरथ प्रयत्न किया है। रायबहादुर बा० श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' में बाह्य परिस्थितियों को बतला कर व्याख्यात्मक समालोचना के क्षेत्र में सराहनीय काम किया है। प्रोफेसर सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' भी अपने ढंग का सुन्दर ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त पं० कृष्णशङ्कर शुक्ल का लिखा हुआ

'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। श्री रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य के 'आलोचनात्मक इतिहास' में कवियों का सविस्तर एवं अध्ययन पूर्ण वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों से हिन्दी भाषा के उन आन्तरिक और वाह्य स्रोतों का पता लगता है जिनसे हिन्दी काव्य की धारा का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से आज तक बहा चला आ रहा है।

इसके अतिरिक्त और भी समालोचना सम्बन्धी फुटकर ग्रन्थ निकले हैं। पं० रामकृष्ण शुक्ल ने प्रसादजी की नाट्यकला के साधारण सिद्धान्तों को वतलाकर प्रसादजी के नाटकों पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्रसादजी के दो नाटक' नाम की एक पुस्तक निकली है उसमें प्रसादजी को समझने का इतना यत्न नहीं है जितना कि दोष-दर्शन का। श्री जनार्दनप्रसादजी तथा डाक्टर रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। नाटकों और उपन्यासों के कई आलोचनात्मक इतिहास निकल चुके हैं। उनमें श्री शिवनारायणजी के हिन्दी के उपन्यास तथा श्री ब्रजरत्नदास का 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य' मुख्य हैं। सेठ गोविन्ददास ने भी नाटकों के सम्बन्ध में 'नाट्यकला मीमांसा' नाम की एक छोटी सी पुस्तक लिखी है। श्री नगेन्द्र जी ने भी 'आधुनिक हिन्दी नाटक' नाम की आलोचनात्मक पुस्तक लिखी है। उसमें नाटकों की आलोचना एक श्रेणी-विभाग के अनुकूल दी गयी है। श्री सत्येन्द्रजी के ,हिन्दी एकाङ्की में एकाङ्की नाटकों के शिल्पविधान के साथ प्रमुख एकाङ्कियों का आलोचनात्मक विवेचन भी है। लेखक के हिन्दी नाट्य-विमर्श में नाटकों के सिद्धान्तों के साथ हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास और संस्कृत तथा हिन्दी के प्रमुख नाटकों की आलोचना भी है। नाटक के प्राचीन सिद्धान्तों का निरूपण रूपक रहस्य में बहुत उत्तम रीति से किया गया है। पण्डित ब्रह्मदत्त शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य में निबंध' नाम की पुस्तक लिख कर निबंधकारों की शैलियों का अच्छा विवेचन किया है। उपन्यासों और नाटकों की समालोचना के सम्बंध में ऐसे बहुत से ग्रन्थों की आवश्यकता है।

आजकल के समालोचना-साहित्य में शुक्लजी का स्थान बहुत ऊँचा है।

उन्होंने तुलसीदास की एवं जायसी की विस्तृत समालोचना कर समालोचना का एक अच्छा आदर्श उपस्थित किया है। पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित होते हुए भी वे अपने निर्णय की कसौटी ढूँढने के लिए रस-शास्त्र से बाहर नहीं गये हैं। शुक्लजी की आलोचनाओं में सैद्धान्तिक अङ्ग पर्याप्त रूप में रहता है। पहले वे अपने सिद्धान्त कह कर पीछे से उन सिद्धान्तों के आधार पर वर्ण्य विषय को आलोचना करते हैं। उन्होंने भाव और विभाव दोनों के ही पूर्ण वर्णन में कवि का कर्तव्य समझा है। उनके सत्काव्य के आदर्श में केवल वर्णन शैली की ही उत्तमता नहीं रहती वरन् वर्ण्य की भी उत्कृष्टता आ जाती है। वे कोरे अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के बहुत खिलाफ हैं। उनकी प्रतिभा विषय प्रधान (Objective) है। शुक्ल जी भाषा और शैली का प्रभाव मानते हुए भी विषय को उत्तमता के ऊपर जोर देते हैं। उन्होंने सुन्दरम् की अपेक्षा सत्यम् और शिवम् को अधिक महत्व दिया है। वे कला और आचार का विच्छेद नहीं करना चाहते।

समालोचना के सिद्धान्तों पर भी बाबू श्यामसुन्दरदासजी के 'साहित्यालोचन' के अतिरिक्त कई और ग्रन्थ निकल गये हैं। श्री नलिनीमोहन सान्याल ने अपने 'आलोचना-तत्व' में मनोवैज्ञानिक पक्ष लिया है। श्री सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' एक बहुत उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसमें क्रोचे (Croce) के अभिव्यञ्जनावाद के अतिरिक्त अपने यहाँ के अलङ्कार-शास्त्र के कई मतों की अच्छी विवेचना है। श्री इलाचन्द जोशी की 'साहित्य-सर्जना' नाम की पुस्तक में 'कला कला के लिए है' वाले सिद्धान्त का समर्थन किया है। आप प्रगतिवाद के विरुद्ध हैं और विशालतापूर्ण भावुकता के पक्ष में हैं।

श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की लिखी 'आदर्श और यथार्थ' नाम की छोटी सी पुस्तक में आदर्शवाद और यथार्थवाद का बड़ा सुन्दर विवेचन है।

प्राचीन ढङ्ग से रस और अलङ्कार की पुस्तकों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'रस-मञ्जरी' और 'अलङ्कारमञ्जरी', लेखक का 'नवरस', केडियाजी का 'भारती-भूषण', रसालजी का 'अलङ्कार पीयूष' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय

हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यप्रकाश का अनुकरण करते हुए रस को ध्वनि के (असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि) के अन्तर्गत माना है। लेखक ने अपने नवरस में साहित्य-दर्पण का अनुकरण करते हुए रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। पोद्दारजी का ग्रन्थ शास्त्रीय अधिक है। लेखक के ग्रन्थ में आधुनिक ढङ्ग की व्याख्याका प्राधान्य है। नवरसों पर पण्डित हरिशङ्कर शर्मा का 'रस-रत्नाकर' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उदाहरणों के लिए वह रत्नाकर ही है। उसमें साहित्य-दर्पण आदि के उदाहरणों के जो अनुवाद हैं वे एक सिद्धहस्त कवि के द्वारा किये जाने के कारण बड़े सरस हैं।

लेखक ने अपनी नवीनतम कृति 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रस सिद्धांत का रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण आदि विभिन्न समस्याओं और साहित्यालोचन के प्रायः सभी सिद्धान्तों का विवेचन किया है।

प्रगतिवाद से प्रभावित आलोचना सम्बन्धी सैद्धान्तिक निबन्ध के दो चार संग्रह निकले हैं। उनमें श्री अञ्चलजी का 'साहित्य और समाज' तथा श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र का 'साहित्य की वर्तमान धारा' नाम के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। श्री शिवदानसिंह चौहान का 'प्रगतिवाद' इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री पदुमलाल बख्शी तथा हेमचन्द्र मोदी द्वारा सम्पादित 'साहित्य-शिक्षा' में आलोचनात्मक लेखों का उपादेय संग्रह है। हिन्दी के बहुत से पत्र भी आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। आगरे का 'साहित्य-सन्देश' आलोचना को मुख्य ध्येय बनाकर प्रकाशित हो रहा है। इसके द्वारा आलोचना क्षेत्र में बड़ा काम हो रहा है। साहित्य-सन्देश ने द्विवेदीजी, प्रसादजी, शुक्लजी और श्यामसुन्दरदासजी के सम्बन्ध में संग्रहणीय विशेषाँक निकाले थे। इसके 'उपन्यास अङ्क' में उपन्यास-साहित्य की अच्छी विवेचना की गई थी। हर्ष की बात है कि हिन्दी का आलोचना साहित्य दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रहा है किन्तु अभी उसमें ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचनाओं की कमी है।

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य भी गद्य का एक मुख्य अङ्ग है। वास्तव में ये भावात्मक छोटे निबन्ध ही हैं किन्तु भावात्मकता के आधिक्य के कारण गद्य-काव्य कहलाते हैं। भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्यकाव्यों में एक-तथ्यता कुछ अधिक होती है। योरोप में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का जो आदर हुआ उससे हिन्दी के गद्य लेखकों में इस तरह के काव्य लिखने की प्रवृत्ति और भी बढ़ गई है।

आजकल के गद्य-काव्य लेखकों में राय कृष्णदासजी यथा वियोगी हरि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन दोनों महाशयों की शैलियों में थोड़ा अंतर है। श्री वियोगी हरि ने यद्यपि पाण्डित्यपूर्ण शैली को भी, जिसमें कि समासों और अलङ्कारों का चमत्कार रहता है, अपनाया है तथापि उनकी शैली में भावावेश का प्राधान्य है। इनकी रचनाओं में एक विशेष तन्मयता है जो आवेश की कोटि तक पहुँच जाती है। इनकी शैली में कुछ अक्खड़पन भी अधिक है। इन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ धर्म में ढोंग और आडम्बर का विरोध किया है। गद्य काव्यों में प्रायः रूपक और अन्योक्तियों से काम लिया गया है। आपके 'अन्तर्नाद' और 'भावना' नाम के दो गद्य-काव्यात्मक ग्रन्थ हैं। राय कृष्णदासजी में वियोगी हरि की अपेक्षा शांत उपासना का भाव अधिक है। वे एक कलाकार हैं, उनकी रचनाओं में हृदय के उद्गार के साथ कुछ कला भी रहती है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने भी कुछ भाव प्रधान लेख लिखे हैं जो 'अन्तस्तल' में संग्रहीत हैं। उनमें कहीं-कहीं वैयक्तिकता का पुट साधारण काव्य की मात्रा से अधिक है। श्रीमती दिनेश-नंदिनी चोरड्या इस दिशा में अच्छी प्रगति कर रही हैं। आपका 'मौक्तिक माल' नाम का संग्रह सेकसरिया पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। 'उनमन' नाम का उनका दूसरा गद्य-काव्य संग्रह हाल ही में निकला है। आजकल कुछ शब्द चित्र भी अच्छे निकले हैं। ये भी एक प्रकार से गद्य-काव्य में आते हैं। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने देहली दरवाजा और लेटर बक्स के अच्छे

वर्णन लिखे हैं। श्री रामप्रसाद विद्यार्थी ने 'पूजा' और 'शुभ्रा' नामक अच्छी काव्यमय पुस्तकें लिखी हैं।

जीवनी

जीवनियाँ तो बहुत हैं किन्तु वास्तविक महत्व की कम हैं। प्राचीन काल के जीवनी साहित्य में गोस्वामी गोकुलनाथजी की चौरासी वैष्णवों की वार्ता दो सौ बावन वैष्णवों की वार्तायें तथा नाभाजी की भक्तमाल और उस पर लिखी हुई प्रियादास की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें महत्व प्रदर्शन और साम्प्रदायिकता की मात्रा कुछ अधिक है। श्री बनारसी-दास जैन की लिखी हुई पद्यमय आत्मकथा में सत्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उसमें लेखक ने अपनी न्यूनताओं की ओर भी संकेत किया है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने पं० सत्यनारायण कविरत्नकी जीवनी लिखी है, वह कवि का व्यक्तित्व समझने में बहुत सहायक हुई है। श्री ब्रजरत्न-दासजी ने भारतेन्दु बाबू का बड़ा सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा है। प्राचीन कवियों के जीवन-चरित्र में एक कठिनाई यह होती है कि उनकी जीवन-सामग्री सहज में उपलब्ध नहीं होती। अभी श्रीहरि रामचन्द्र दिवेकर की लिखी हुई 'संत तुकाराम' की विचारपूर्ण जीवनी निकली है। इनके अतिरिक्त गणेशशङ्कर विद्यार्थी, वीर-केशरी शिवाजी, मीर कासिम, महात्माओं के दर्शन आदि कई पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों ने जीवन साहित्य की आंशिक पूर्ति की है।

श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'मालवीयजी के साथ तीस दिन' में मालवीयजी के श्रीमुख से सुनी हुई उनकी जीवनी है।

बालोपयोगी जीवनियाँ बहुत-सी निकली हैं और उस श्रेणी के पाठकों के लिए वे बहुत अच्छी हैं। मूल रूप से लिखी हुई आत्म-कथाएँ भी हिन्दी में कई हैं किन्तु महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथाओं का अनुवाद 'आत्म कथा' और 'मेरी कहानी' नाम से उल्लेखनीय हैं। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रवीन्द्र बाबू के बचपन की आत्म कथा का अनुवाद किया है।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास की आत्म कथा व्यक्ति की आत्म कथा न होकर नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी के उत्थान का इतिहास है। उसकी भाषा शैली भी बड़ी सुन्दर है किन्तु कहीं-कहीं वे किन्हीं व्यक्तियों के प्रति कुछ अनुदार हो गये हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजी लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक' अच्छी आत्म-कथा है। वह अनुवाद नहीं है। 'कल की बात' नाम से कुछ हिन्दी के लेखकों की संक्षिप्त कथायें सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित हुई हैं।

श्री वियोगी हरि की आत्मकथा 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हो रही है। बख्शीजी 'अपनी बात' के रूप में अपनी कथा 'आज कल' में कह रहे हैं। डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी की आत्मकथा मूल रूप से हिन्दी में ही लिखी गई है।

संस्मरण, यात्राएँ, पत्र, दैनिकी आदि जीवनी-साहित्य के कई और रूप हैं जिनकी कि अभी आंशिक-पूर्ति भी नहीं कही जा सकती। 'सुधा' में प्रकाशित धीरेन्द्र वर्मा के यात्रा-सम्बंधी बड़े रोचक और ज्ञानप्रद वर्णन निकले थे। अब वे पुस्तक रूप से प्रकाशित हो गये हैं। आत्मकथात्मक संस्मरणों में महादेवीजी के 'अतीत के चलचित्र' बड़े रोचक और सजीव हैं। यात्रा-सम्बन्धी और भी पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें श्री शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा', पं० रामनरायण मिश्र तथा बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद वकील की 'योरोप यात्रा के छः मास' मुंशी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा' आदि पठनीय हैं। राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत आदि के सम्बंध में खूब लिखा है। आपकी 'सोवियत भूमि' बहुत उत्तम पुस्तक है। भौगोलिक ज्ञान बढ़ाने में श्री रामनारायण मिश्र का 'भूगोल' नाम का मासिक पत्र उल्लेखनीय है। भूगोल साहित्य की रचना और प्रकाशन में मिश्रजी का परिश्रम स्तुत्य है।

विविध विषय

हिन्दी में और अङ्गों की यथावत पूर्ति हो रही है। इतिहास, राजनीति, समाज-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, विज्ञान सभी विषयों में अच्छी-अच्छी पुस्तकें निकलती आ रही हैं जो अन्य भाषाओं के साहित्य से भली प्रकार टक्कर ले सकती हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् वे अन्य भाषा भाषियों की ज्ञान वृद्धि भी कर

सकती हैं। इतिहास में रायबहादुर श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा का 'राज-पूताने का इतिहास' श्री जयचन्द विद्यालङ्कार का 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' आदि ग्रन्थों ने हिन्दी का गौरव बढ़ाया है। मिश्र-बन्धुओं ने भी कई इतिहास-ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें भारतवर्ष का इतिहास मुख्य है। केलाजी ने राजनीति और नागरिक-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य उपस्थित करने में बहुत काम किया है। श्री मुकन्दीलाल श्रीवास्तव ने साम्राज्यवाद पर एक अच्छी पुस्तक लिखी है। श्री सम्पूर्णानन्दजी का 'साम्यवाद' मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। अभी उसका चतुर्थ संस्करण निकला है। श्री रामनारायण यादवेन्दु भी राजनीति में सुपाठ्य सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं।

'दर्शनशास्त्र' में गङ्गाप्रसाद एम०ए० की 'आस्तिकवाद', 'अद्वैतवाद' आदि श्लाघनीय पुस्तकें हैं। डाक्टर भगवानदास का 'समन्वय' नाम का ग्रन्थ बड़ा पाण्डित्य पूर्ण है। नागरी प्रचारणी सभा से 'तर्कशास्त्र' 'कर्तव्यशास्त्र' आदि कई पुस्तकें इस विषय पर निकल चुकी हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर की 'अज्ञेय मीमांसा', 'कांट और बर्कले' आदि कई छोटी-छोटी पुस्तकें निकली हैं। नागरी प्रचारिणी सभा से न्याय और वैशेषिक दर्शनों पर भी दो पुस्तकें निकल चुकी हैं। हाल में प्रोफेसर देवराज का 'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास' निकला है। वह एक अभाव की पूर्ति करता है। 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' लेखक द्वारा नागरी प्रचारिणी सभा की सूर्य कुमारी पुस्तकमाला में उपस्थित किया जा चुका है। श्री बलदेव प्रसाद का 'भारतीय दर्शन' मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। प्रोफेसर देवराजजी का 'पूर्वी पश्चिमी' दर्शन तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत उपयोगी पुस्तक है। उसमें ज्ञान की प्रामाणिकता आदि समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

विज्ञान सम्बन्धी कुछ सुन्दर पुस्तकें लिखी गयी हैं, जिनमें डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना', 'रोग और चिकित्सा,' डाक्टर गोरखप्रसाद की 'फोटोग्राफी' और 'सौर परिवार' श्री रामदास गौड़ की 'विज्ञान हस्तामलक' विशेष महत्व की हैं। 'विज्ञान' नाम का मासिक पत्र वैज्ञानिक-साहित्य की अच्छी सृष्टि कर रहा है।

कला के सम्बन्ध मे राय कृष्णदास की 'भारतीय मूर्तिकला' और 'भारतीय चित्र कला' बड़ी उपादेय पुस्तकें हैं। श्री एन०सी० मेहता की 'भारत की चित्रकला' नाम की पुस्तक भी बड़े महत्व की है।

भाषा-विज्ञान पर भी बाबू श्यामसुन्दरदासजी, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना तथा श्री नलिनीमोहन के बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थ निकले हैं।

कोष साहित्य की भी इधर अच्छी श्रीवृद्धि हुई है। श्री नागरी प्रचारिणी सभा का शब्द सागर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। हाल ही में ज्ञान-विज्ञान का एक महत्व पूर्ण विश्वकोष एनसायक्लोपीडिया 'विश्वभारती' के नाम से पं० श्री नारायणजी चतुर्वेदी के प्रधान सम्पादकत्व में निकला है।

हास्य सम्बन्धी साहित्य का भी हिन्दी में प्रचुरता से तो नहीं किन्तु एक सन्तोषजनक मात्रा में निर्माण हुआ है। अन्नपूर्णानन्द वर्मा के 'महाकवि चच्चा' और 'मेरी हजामत' नाम की पुस्तकों में बड़ा उच्चकोटि का हास्य उपस्थित किया गया है। श्री हरिशङ्कर शर्मा के 'चिड़ियाघर' और 'पिंजरापोल' में सुन्दर व्यंग्य तथा अनुप्रासों की छटा दर्शनीय है। लेखक ने अपने 'ठलुआ क्लब' में कुछ हास्य-प्रधान स्केच दिए हैं और 'मेरी असफलताएँ' नाम की पुस्तक में एक साहित्यिक ढङ्ग से अपने ऊपर हँसने का प्रयत्न किया है। हास्य-प्रधान छोटी कहानियाँ और नाटक भी लिखे गये हैं। ऐसे ग्रन्थों के लेखकों में जी० पी० श्रीवास्तव का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। उनमें मारकूट-धौलधप्पा का परिस्थिति सम्बन्धी हास्य अधिक है। निरालाजी ने भी कई हास्य-प्रधान पुस्तकें लिखी हैं। उनमें हास्य के साथ उनके सामाजिक अक्खड़-पन का अधिक परिचय मिलता है।

इस प्रकार हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है। अभी हिंदी उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनी है। जिस समय हिन्दी को यह गौरव प्राप्त हो जायगा—तब भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें बहुत शीघ्रता के साथ निकलने लगेंगी। अभी पाठकों के अभाव के कारण उच्चकोटि के साहित्य का

निर्माण नहीं हो रहा है। किन्तु जो प्रगति अभी तक चल रही है उससे भविष्य के लिए शुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं।

नवीन पद्य-साहित्य—व्रजभाषा-काव्य

नये युग का प्रवेश—जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, रीति-काल की कविता एक बँधी हुई प्रणाली में चलती रही। उस काल के काव्य का प्रधान विषय अलङ्कार और नायिका भेद था। अलङ्कारों के उदाहरण भी शृङ्गार रसात्मक होते थे। ऐसी अवस्था में नवीनता के लिए बहुत कम स्थान था। कवि कर्तव्य एक परिपाटी की पूर्तिमात्र रह गया था। इस प्रकार भाषा में भी अनुकरण का प्राधान्य था। अर्थगाम्भीर्य और व्यञ्जना शक्ति की अपेक्षा शब्दालङ्कारों के बाह्य आडम्बर पर अधिक महत्व दिया जाता था। शब्दों के चलन की कम परवाह की जाती थी।

अंग्रेजी राज्य के आजाने पर चारों ओर नवीन युग का अरुणोदय हो गया था। किन्तु काव्य क्षेत्र में कुछ काल तक प्राचीन परिपाटी ही चलती रही। हरिश्चन्द्र से पूर्व प्राचीन परिपाटी की स्थिति रखने वाले कवियों में सेवक कवि (संवत् १८७२-१९३२) जिन्होंने वाग्विलास में नायिका-भेद का वर्णन किया है, सरदार (कविता-काल संवत् १९०२-१९४०) जिनके बनाये हुए साहित्य-सरसी, षड्ऋतु, हनुमत भूषण, साहित्य-सुधाकर प्रसिद्ध हैं, ललितकिशोरी तथा ललितमाधुरी जिनका मन्दिर शाहजी के नाम से वृन्दावन में प्रख्यात है और जिन्होंने श्रीकृष्ण लीला के बड़े सुन्दर पद गाये हैं, आगरा निवासी राजा लक्ष्मणसिंह (संवत् १८८३-१९५३) जिन्होंने कालिदास कृत शकुन्तला, रघुवंश, मेघदूत के बड़े सुन्दर अनुवाद किए हैं, लछिराम ब्रह्म भट्ट जिनका 'रावणेश्वर कल्पतरु' नाम का रीति ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लोगों का काव्य महत्वपूर्ण अवश्य था किन्तु वह साहित्य की प्रगति को आगे न बढ़ा सका।

गद्य की अपेक्षा पद्य में रूढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है। काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का जीवित रहना उसी रूढ़िवाद का फल है। अंग्रेजी

राज्य की स्थापना हो जाने से बुद्धिवाद बढ़ा और शृङ्गारिक मादकता का कुछ खुमार उतरा। सन् १८५७ के गदर के पश्चात् परिस्थितियों में भी परिवर्तन आगया। सन् ५७ का गदर बुझते हुए स्वतन्त्रता के दीपक की अन्तिम चमक थी। उसकी विफलता ने हार के मनोवृत्ति को और भी गहरा कर दिया था। हास-विलास तो रहा किन्तु उसमें उत्साह और उल्लास न था। उस समय की हँसी फीकी हँसी थी। नायिका भेद और शृंगारिक कविता में विशेष बल नहीं रह गया था। सामन्त शाही भी शेष प्रायः हो चली थी। नायका भेद की लकीर पीटी जा रही थी लेकिन उसी तरह से जिस तरह से कि बिना एञ्जिन की रेलगाड़ी कुछ दूर तक ढकिल सकती है। भक्ति काव्य हिन्दू मनोवृत्ति के कुछ अधिक निकट होने के कारण मरा नहीं था। उससे शृङ्गार भावना की भी तृप्ति हो जाती थी। उस समय की राष्ट्रीयता में अंग्रेजी शासन की सुव्यवस्था पर साधुवाद और राजभक्ति की भावना भी थी और साथ ही उनकी शोषक नीति के विरुद्ध एक नरम सा विद्रोह भी था। गद्य प्रचार तो बढ़ा ही, किन्तु नयी शासन-व्यवस्था का प्रभाव पद्य पर भी पड़ा। कुछ तो अंग्रेजों के समृद्ध साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण विचारों को उत्तेजना मिली और कुछ नये शासन की सफलता से अपेक्षाकृत शान्ति मिली और इस कारण अध्ययन की रुचि बढ़ी। उसी के साथ अपनी पारस्परिक फूट की ओर ध्यान आकर्षित होकर पश्चाताप की भावना जाग्रत हुई। इन सब कारणों से जातीयता के भाव बढ़े और उसी के साथ जातीय अवनति का मूल कारण-स्वरूप सामाजिक कुरीतियों की ओर भी लोगों का ध्यान गया। इस प्रकार समाज-सुधार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे इन भावों का प्रवेश साहित्य में हुआ और पहले पहल भारतेन्दु बाबू की कविता में राष्ट्रीय भावनायें अङ्कुरित हुईं।

काव्य के विषय में तो परिवर्तन के लिये द्वार खुला, किन्तु काव्य की भाषा वही ब्रजभाषा रही। क्योंकि व्रजभाषा ने साहित्य में ऐसा स्थान प्राप्त कर लिया था कि उसको काव्य भाषा से पदच्युत करना कठिन था। रीतिकाल के आदर्श नायक-नायिका राधाकृष्ण ही थे। इस नाते से रीतिकाल

में भी ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा। ब्रजभाषा प्रान्तीय भाषा न रही वरन् साहित्य की व्यापक भाषा हो गई थी। कुछ काल तक तो ब्रजभाषा का ही साम्राज्य रहा, उसके पश्चात् धीरे-धीरे कुछ कविगण ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में (जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्रीधर पाठक) काव्य-रचना करते रहे। उसके पश्चात् लोगों ने अपनी रुचि के अनुकूल अलग अलग क्षेत्र चुन लिये। अब हम पहले ब्रज भाषा की काव्य-धारा का वर्णन कर खड़ी बोली की काव्य-धारा का परिचय करावेंगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(सं० १९०७-१९४२) हिन्दी कविता का वर्तमान युग श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही आरम्भ होता है। काव्य-गगन के इस नवेन्दु में विकास की आशा भरी हुई थी। उनके काव्य में नवीन युग की भावनायें मुखरित हुईं। यद्यपि भारतेन्दु बाबू ने ब्रजभाषा में ही कविता की, तथापि वे काव्य के विषयों को विस्तार दे तथा चलन से छूटे हुए 'लोय' आदि शब्दों का बहिष्कार कर उस भाषा को वास्तविक जीवन के अधिक निकट ले आये। इस प्रकार उन्होंने साहित्य का जनता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। उनके सम्पर्क से ब्रजभाषा का संकुचित वातावरण मुक्तोन्मुक्त हो गया। अलंकार और नायिका भेद के संकुचित गढ़ में बैठी हुई कविता-कामिनी को उन्होंने देश-भक्ति और समाज-सुधार के वातायनों द्वारा स्वतंत्रता की सांस लेने का अवसर दिया। 'नील देवी' और 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों में देश की करुण पुकार और दबी हुई भावनायें अंकुरित हो उठीं। भारतेन्दुजी ने गङ्गा यमुना आदि का वर्णन कर प्रकृति-वर्णन भी किया है किंतु उसमें अलंकारों का चमत्कार और कवि के कर्तव्य पालन की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। इनके प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में प्रायः यह भी आक्षेप किया जाता है कि इन्होंने प्रकृति को भी मानवी घेरे में बन्द रखना चाहा है। इनका ध्यान खुली हुई प्रकृति की ओर न जाकर ऊँची अट्टालिकाओं और घाटों आदि मानवी कृतियों की ओर अधिक

गया है। यह बहुत अंश में ठीक है, किन्तु इनके वर्णन अन्य कवियों की अपेक्षा बहुत अच्छे हुये हैं और उनके मूल में देश-भक्ति की भावना छिपी हुई दिखाई पड़ती है। प्रकृति का उन्मुक्त स्वरूप दर्शनीय एवं उल्लासप्रद अवश्य है किन्तु नगर की सुन्दरता और उसका वैभव भी उपेक्षणीय नहीं है।

भारतेन्दु बाबू की राष्ट्रीयता भूषण की राष्ट्रीयता से एक कदम आगे बढ़ी हुई थी। भूषण तो हिन्दुओं की ही दुहाई देकर रह गये थे किन्तु इन्होंने हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सब को भारत की संतान ठहराया। वैसे तो इन्होंने भी हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का मंत्र फूँका था किन्तु इनकी जातीयता संकुचित नहीं थी। भारतेन्दु बाबू में देश-भक्ति के साथ राजभक्ति की भी मात्रा पर्याप्त थी। उसका यही कारण था कि अँग्रेजी राज्य की सुव्यवस्था ने देश में शान्ति स्थापित करदी थी और वे उसके द्वारा भारत की उन्नति की आशा कर रहे थे। उन्होंने अँग्रेजों की काबुल, मिस्र आदि देशों में सफलता पर बड़ा हर्ष प्रकट किया था क्योंकि उसमें भारतीय सैनिकों का गौरव बढ़ा था। इस राज-भक्ति में भी कहीं-कहीं दबे हुए असन्तोष की झलक मिलती है। भारत का धन विदेश में जाता हुआ देख उनका हृदय व्यथित होता था।

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

इस प्रकार उनकी राज-भक्ति और देशभक्ति दोनों ही हृदय की वस्तु थीं।

भारतेन्दु बाबू पर उर्दू साहित्य का काफी प्रभाव था और वे स्वयं उर्दू में भी कविता करते थे। उर्दू के प्रभाव से उनके प्रेम के वर्णनों में वेदना की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। वास्तव में हम भारतेन्दु बाबू को प्रेम का ही कवि कहेंगे। उनकी प्रेम भावना ही देश-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की भावना में परिणत हो गई थी। श्याम-घन के चिंतन से उनका मन-मयूर नाचने लगता था और वे रसखान की भांति व्रज की लता-पता बनने की अभिलाषा करते थे। किन्तु यह भी प्रेम ही का एक रूप था, प्रेम ही उनका सर्वस्व था—

जेहि लहि फिर कुछ लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥

भारतेन्दु बाबू की कृष्ण भक्ति अनन्य होते हुए भी उसमें कट्टरता न थी। उनकी कविता में साम्प्रदायिकता प्रचुर मात्रा में थी किंतु उसी के साथ अन्य धर्मों के प्रति बड़ी उदार भावनाएँ थीं। यह उनके प्रेमी स्वभाव के कारण ही है। वे सच्चे वैष्णव की भाँति जगत को सत्य मानते थे। वे मायावाद के बहाव में नहीं पड़े थे। संक्षेप में भारतेन्दु बाबू में भक्ति काल और रीतिकालीन शृंगारिक भावनाओं के साथ नये युग की देशभक्ति और समाज-सुधार की भावनाओं का शिलारोपण मिला। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि पुरानी प्रवृत्तियों का समूल नाश नहीं होता।

भारतेन्दु बाबू ने अपने काव्य द्वारा तीन बातों की नींव डाली, जिनका कि प्रभाव आधुनिक काव्य पर भी दिखलाई पड़ता है। वे बातें इस प्रकार हैं—(१) साहित्यिक भाषा का जनता की भाषा के साथ सम्पर्क (२) प्रेम में वेदना और कसक (३) देशभक्ति।

भारतेन्दु बाबू स्वयं ही कवि नहीं थे वरन् वे उस समय की एक केन्द्रीय ज्योति थे, जिसके चारों ओर अन्य कविगण मंडल बांध कर घूमा करते थे। उन्होंने कवियों को दान और मान दोनों से प्रोत्साहन दिया। उनके अपने समय में बहुत से कवि-समाज स्थापित हुये जिनमें पेश की हुई समस्याओं की पूर्ति में कभी कभी बड़ी उत्कृष्ट कविता की सृष्टि हुई।

नवीन-युग के प्रारम्भिक काल के कवियों में भारतेन्दु बाबू के अतिरिक्त पंडित अम्बिकादत्त व्यास (सं० १६१५-१६५७) जिन्होंने बिहारी पर कुंडलियां लिखी थीं, 'कृष्णापचीसी' के लेखक मथुरा निवासी नवनीतलाल चतुर्वेदी बाबू राधाकृष्णदास जिन्होंने अन्य कविता के अतिरिक्त रहीम के दोहों पर कुंडलियाँ लिखी थीं, पण्डित प्रतापनरायण मिश्र (सं० १६१३-१६५१) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये कवि प्रायः ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। श्री अम्बिकादत्त व्यास ने कुछ कविता खड़ी बोली में भी

की है। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र की ब्रजभाषा पर पश्चिमी अवधी का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

अब कुछ विशेष कवियों का विवरण दिया जाता है—

श्री बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन—(सं० १६१४—१६४५) आपने देश-प्रेम और हिंदी-प्रचार के सम्बंध में कविता की है और थोड़ी कविता खड़ी बोली में भी की है। तत्कालीन समाज में जो जातीय भावनाएँ प्रचलित थीं वे आपकी कविता में पूर्णतया प्रतिबिम्बित हैं। 'प्रेमघन सर्वस्व' के नाम से उनकी कविता का संग्रह निकल चुका है।

ठाकुर जगमोहनसिंह—(सं० १६१४—१६४५) इनकी कविता स्वतंत्र ढंग की थी। इन्होंने प्रेम-सम्बंधी कविता अधिक की थी और इनका मन देश-प्रेम की ओर न जाकर प्रकृति को आलम्बन रूप से देखने में रमा। इन्होंने नये ढंग के प्रकृति-चित्रण की नींव डाली।

राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए०—(सं० १६१५—१६६३) आपने सरकारी नौकरी करते हुए भी हिंदी की बड़ी सेवा की है। आप 'भूप' के नाम से कविता करते थे। आपने रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत का अनुवाद किया है। आपकी भाषा शुद्ध और परिमार्जित है और अनुवादों में मूल के अर्थ का बहुत कुछ निर्वाह हुआ है।

मिश्र-बन्धु

मिश्र-बंधुओं का नाम समालोचकों में तो है ही, आप लोगों ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही कविता भी की है। आपके काव्य में समय की उपदेशात्मक प्रवृत्ति अवश्य है परन्तु आपने भावात्मक कविता भी की है। आपने रघुवंश के कुछ अंश का भी पद्यानुवाद किया है:—

कहाँ दिनकर कुल जगत विदित कहाँ,
प्रतिभा अलप वारी मति मम रङ्क है।
केवट विहीन चहै केवल उडुप चढ़ि,
तरन अपार मनु जलधि निसङ्क है॥

× + + +

मन्द मति ऐसी तऊ कवि जस लेन चहौं,
　　　　　　　　आँखि जग हँसि है बिलोकि मो ढिठाई को।
ऊँचे फल हेत जिमि बावन उठान कर
　　　　　　　　केवल प्रकासत महान मूढ़ताई को ॥

श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

(सं० १६२३—१६८६) आप ब्रजभाषा के अनन्य भक्त थे। खड़ी बोली का आकर्षण आपके ब्रजभाषा-प्रेम पर विजय न प्राप्त कर सका। हरिश्चन्द्र काल से कविता करना प्रारम्भ किया था और आधुनिक युग में भी आपने उसी परिपाटी को जीवित रक्खा। आपने 'हरिश्चन्द्र' 'गङ्गालहरी' आदि कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु 'उद्धवशतक' और 'गङ्गावतरण' ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। 'उद्धवशतक' भाव प्रधान ग्रन्थ है और गङ्गावतरण कथात्मक ग्रन्थ है। 'उद्धवशतक' में एक प्राचीन परिपाटी का पालन करते हुए भी आप उसमें कुछ नवीनता ला सके हैं। गोपियों और कृष्ण के प्रेम में आपने दोनों की विरह-वेदना दिखलाई है। उद्धव शतक में रत्नाकर जी पर भक्ति-काव्य और रीतिकाल का मिश्रित प्रभाव है। उन्होंने भक्तिकालीन भावनाओं को रीति-कालीन आलङ्कारिकता के साथ व्यक्त किया है। उनकी गोपियों में सूर की गोपियों की वैयक्तिक प्रेम-निष्ठा और नन्ददास जी की गोपियों की तार्किकता है। 'गङ्गावतरण' की कथा में भी आपने थोड़ा बहुत परिवर्तन कर उसमें शृंगार, वीर, हास्य, भयानक सभी तरह के रसों के संचार की सामग्री उपस्थित की है। आप की कल्पना बड़ी उर्वरा है और आपने शब्दावली में बिना विदेशी मुहावरों को ग्रहण किये ही सुन्दर लाक्षणिकता लाने का उद्योग किया है। आपकी भाषा में 'हरा होना' 'जुड़ाना' 'बह जाना' आदि लाक्षणिक शब्दों का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। रत्नाकर जी ने ऐसे शब्दों की लाक्षणिकता का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। कहीं-कहीं आपने मुहावरों का बड़ी सार्थकता से प्रयोग किया है। धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में अंधे के आगे रोना अथवा सगर यज्ञानुष्ठान कामना में पुत्रों के जल जाने के सम्बन्ध में

'होम करत कर जर्‌यौ पर्‌यौ विधि बाम हमारौ' कितना स्वाभाविक है। अभिधा और लक्षणा दोनों का मेल हो जाता है। रत्नाकर जी ने बड़े सुन्दर शब्द चित्र भी खींचे हैं और कहीं कहीं शब्दों की विशेष ध्वनि के कारण शब्द और अर्थ की स्वाभाविक संगति भी बन गई है।

रत्नाकर जी की ब्रजभाषा कुछ संस्कृतगर्भित है। उसमें लम्बे-लम्बे समास भी आ जाते हैं। आपने अपनी रचनाओं में व्याकरण का अधिक ध्यान दिया है। आपकी भाषा में (विशेषकर गङ्गावतरण में) माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा कुछ अधिक है। अवाह (अवाक्) अकह (अकथ) आदि अपभ्रंश के भी प्रयोग आये हैं और कहीं-कहीं पूर्वीप्रयोग भी हैं। कविता के उदाहरण स्वरूप 'गङ्गावतरण' से दो छन्द और एक छन्द उद्धव शतक से दिया जाता है।

भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके बाहन रुकत नेंकु नहिं विधि हरि-हर के॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके।
धुनि प्रति धुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥

*   *   *   *

छहरावति छबि कबहुँ कोऊ सित सघन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिम-प्रचुर-पटा पर॥
तिहि घन पर लहराति लुरति चपला जब चमकै।
जल-प्रतिबिम्बित दीप-दाम-दीपित-सी दमकै॥

—गङ्गावतरण

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्मदूत ह्वै पधारो आप
धारे प्रन फेरन कौ मति ब्रजवारी की।
कहै रत्नाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम
तौहू हमैं भावति ना भावना अभारी की।

जैहै बनि-बिगरि न बारिधता बारिध कौं
बूँदता बिलैहै बूँद बिवश बिचारी की ॥

—उद्धव शतक

वेदान्ती लोग कहा करते हैं कि जिस प्रकार बूँद समुद्र में मिल कर समुद्र हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म हो जाता है। इस मुक्ति के खिलाफ गोपियों का कहना है कि बूँद के समुद्र में मिलने या न मिलने से समुद्र का कुछ नहीं बनेगा किन्तु बूँद बिचारी अपना अस्तित्व खो बैठेगी। अपना अस्तित्व खोकर समुद्र बनने में क्या लाभ? वह लाभ पाने वाला ही न रहेगा।

राय देवीप्रसाद पूर्ण

(सं० १९२५—१९७१) पूर्ण जी में प्राचीन परिपाटी के शृङ्गारिक वर्णनों के साथ साथ तत्कालीन देशभक्ति की भावनाओं की भी अभिव्यञ्जना प्रचुर मात्रा में मिली रहती है। आपका ऋतु-वर्णन सेनापति के टक्कर का है। आपकी ब्रजभाषा बहुत शुद्ध और व्याकरण के नियमों के अनुकूल तथा एक रस रहती थी। आपने 'धराधर धावन' नाम से मेघदूत का बड़ा सुन्दर अनुवाद भी किया है। एक उदाहरण लीजिए—

आसा ही के सहारे अतुलित दुख में मैं धरूँ धीर जैसे।
तू हू हे भागवन्ती दुसह विरह में राखु री धीर तैसे ॥
ना कोऊ नित्य भोगै अति सुख, अरु ना नित्य ही दुखभारी।
ऊँची-नीची अवस्था लखियतु जग में चाल ज्यों चक्रवारी॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— (संवत् १९४१-९८)

आपका नाम गद्य-लेखकों और समालोचकों में तो अग्रगण्य है ही किन्तु ब्रजभाषा काव्य के सम्बन्ध में भी आपका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आपने एडविन आर्नोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' (Light of Asia) के आधार पर 'बुद्ध-चरित्र' नाम का एक प्रबन्ध-काव्य लिखा है। आपने अपनी करुणार्द्र प्रकृति के अनुकूल अपने काव्य का चरित्र नायक चुना है।

प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में आपका सिद्धान्त है कि प्रकृति हमारी सहचरी है। इसके प्रति हमारा स्वाभाविक आकर्षण है। हमारे कवियों को इसे केवल उद्दीपन रूप से न वर्णन कर आलम्बन रूप से भी वर्णन करना चाहिये और अपने वर्णन को ऐसा बनाना चाहिए कि जिसमें पूरा संश्लिष्ट चित्र उतर सके। आपने अपने प्रकृति वर्णनों में इस सिद्धान्त का पूर्णतया पालन किया है। आपकी ब्रजभाषा शुद्ध ब्रजभाषा है जो कि जीवित ब्रजभाषा के बहुत निकट है। आपने खड़ी बोली में बड़ी सुन्दर कविता की है, देखिए :—

भूरी हरी घास फूली सरसों है पीलो-पीलो,
पीली बिन्दयों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग राशि रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार।
ओढ़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली सी नीली नागमाला उठी धुआँधार॥

सत्यनारायण कविरत्न (सम्वत् १६४१—१६७५)

आप आगरे के पास धाँधूपुरा गाँव के निवासी थे और अत्यन्त सरल स्वभाव के थे। आपकी वाणी मधुर थी, आपके काव्य में ब्रजभाषा का सहज माधुर्य देखने को मिलता है। आपने प्रेम और शृंगार की कविता की है किन्तु बड़े मर्यादित रूप से। आपके प्रेम का आदर्श रसखान और हरिश्चन्द्र के आदर्श से मिलता-जुलता है। प्रेम की पूर्ण परिभाषा अव्यक्त रहने की बात को आपने कैसे सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है:—

उलटा पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा,
मिलहि न परि कहुँ एक 'प्रेम' पूरी परिभाषा।
स्वयं सिखाय न सकै सारदा याकी पाटी,
परम विलच्छन स्वच्छ प्रेम पूरित परिपाटी।

गोपनीय रस रहे पुरातन प्रथा भली है,
याही सों अवखिली रही यह प्रेम कली है।

आप प्रकृति के भी सच्चे उपासक थे। आपका प्रकृति-वर्णन निजी निरीक्षण से उत्पन्न हृदयोल्लास का फल था। देखिए—

अलबेली कहुँ वेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये-धोये पातन की अनुपम कमनाई॥

आपने ब्रजभाषा में भी राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश किया है। देश की दयनीय दशा का आपके लिखे हुए भ्रमरदूत में कैसा सुन्दर चित्रण है! इस भ्रमर दूत के पदों की अन्तिम छोटी पंक्ति नन्ददास के अनुकरण में है। इसमें यशोदाजी ने भ्रमर के द्वारा कृष्ण को सन्देश भेजा है। देखिए —

'टिमटिमात जातीय ज्योति जो दीप-शिखा सी।
लगत बाहरी ब्यार बुझत चाहत अबला-सी॥
शेष न रह्यो सनेह को काहू हिय में लेस।
कासों कहिए गेह को देसहिं में परदेस॥
भयो अब जानिए—'

आपके वैयक्तिक जीवन की करुणा 'भयो क्यों अनचाहत कौ संग' अथवा 'अब नहिं जात सही' आदि कविताओं में प्रस्फुटित हुई है। आपने भगवान् को बड़े सुन्दर उपालम्भ भी दिये हैं। जैसे 'माधव आप सदा के कोरे।' ऐसे उपालम्भों में थोड़ा राजनीतिक व्यंग्य भी रहता है।

स्फुट कविताओं के अतिरिक्त जो कि 'हृदय तरङ्ग' में संग्रहीत हैं, आपने भवभूति के दो नाटकों का (उत्तर रामचरित और मालती माधव) का बड़ा सरस अनुवाद किया है, जिसमें मौलिकता का आभास होता है।

श्री वियोगी हरि (जन्म सं० १९५३)

आपने भक्ति का पाठ पढ़ाते हुए भी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल वीर-रस सम्बन्धी ७०० दोहे लिख कर 'वीर सतसई' का निर्माण किया, इस प्रकार ब्रजभाषा भी राष्ट्रीय भावों से वंचित न रही। आप वैष्णव धर्म

से बहुत प्रभावित हैं, और आपने कविता सम्बन्धी आदर्शों में भारतेन्दुजी का अनुकरण किया है। वीर दोहावली में आपने कहीं-कहीं प्राचीन अलङ्कार-प्रधान शैली को बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। दो उदाहरण लीजिए—

पावस ही में धनुष अब, सरित तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में वीर॥

इस दोहे में परिसंख्या अलङ्कार के सहारे वर्तमान दशा पर बड़ा सुन्दर व्यंग्य किया है। असंगति का एक उदाहरण लीजिए। इसमें असंगति की परिभाषा भी आगयी है—

कारण कहुँ कारज कहूँ, अचरज कहत बनै न।
असि तों पीवत रकत, पै होत रकत तुव नैन॥

अन्य कविगण

आजकल के समय में श्री दुलारेलाल भार्गव, पंडित किशोरीदास वाजपेयी, श्री नाथूराम माहौर आदि कई सज्जनों ने व्रजभाषा में मुक्तक काव्य की अच्छी रचना की है। प्रबन्ध काव्य में श्री हरदयालुसिंहजी का 'दैत्यवंश' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें दैत्य राजाओं का वर्णन है। यद्यपि इस काव्य की शैली परम्परामुक्त है तथापि इस युग के व्रजभाषा काव्य के लिए यह अच्छी देन है। यह पुस्तक देव पुरस्कार से सम्मानित हो चुकी है। श्री बचनेशजी का 'शबरी' नामक खण्ड-काव्य समयानुकूल है।

मथुरा में व्रजभाषा की प्राचीन परम्परा के अनुभवी कवियों का अच्छा समूह है। स्वर्गीय कविरत्न नवनीति चतुर्वेदी के सुपुत्र गोविन्ददत्तजी और श्री रामललाजी अच्छी कविता करते हैं। श्री गोविन्दजी की व्रजवानी नामक छोटी-सी पुस्तक व्रज साहित्य मण्डल द्वारा श्रीनिवासदास पुरस्कार से सम्मानित हुई है। आशा की जाती है कि श्री सवाई महेन्द्र राजा वीरसिंह जू देव ओरछा नरेश द्वारा प्रदत्त पुरस्कार के प्रताप से इस काल में भी व्रजभाषा की श्री वृद्धि होती रहेगी।

खड़ी बोली पद्य

मेरठ, देहली के आसपास की जनता की बोली के रूप में खड़ी बोली बहुत दिन से चली आती है। उर्दू की यही जननी है। मुसलमानों ने इसे बनाया नहीं था वरन् इसे अपना कर उसको उर्दू का रूप दिया था। इसकी अकारान्त प्रवृत्ति का पूर्वरूप 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंत' जैसे अपभ्रंश काव्य में भी मिलता है। इसके पश्चात् कबीर, खुसरो, रहीम आदि की कविताओं में भी इसे स्थान मिलता रहा, किन्तु ब्रज और अवधी के साथ कृष्ण और राम के पवित्र नामों की जो स्वाभाविक उत्तेजना लगी हुई थी, वह इसमें न थी; साहित्यिक गद्य में इसका प्रचार न था। वास्तव में जब गद्य ही नहीं तब वहां खड़ी और पड़ी कहाँ से आती?

जब लल्लूलालजी आदि ने इसमें गद्य-रचना आरम्भ की (उन्होंने इसको जन्म नहीं दिया) तब साहित्य-क्षेत्र में इसका अस्तित्व दिखलायी पड़ने लगा। बोलचाल में तो इसने उत्तर भारत में व्यापकता प्राप्त करली थी। बोलचाल की भाषा होने के कारण तथा गद्य और पद्य की भाषा का भेद मिटाने के अर्थ तथा साहित्यिक मितव्ययिता या लाघव के नाते लोगों ने इसको पद्य की भाषा बनाने का पक्ष लिया। खड़ी बोली का झंडा खड़ा करने वालों में मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री प्रमुख हैं। इन लोगों के उद्योग और प्रभाव से कुछ कवियों ने इसे अपनाया और इसमें बड़ी सुन्दर रचनाएँ कीं। प्रारम्भ में कुछ लोगों (पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि) ने विरोध किया। क्रमशः यह विरोध कम हुआ और पं० श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण और पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा आदि ने इसको अपनाया और खड़ी बोली की कविता की। इन सब में पं० श्रीधर पाठक को अधिक श्रेय है। वे ही खड़ी बोली की कविता के जनक कहे जा सकते हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—(संवत् १६२३–६५) आपने खड़ी बोली में स्वयं भी कविता कर इसका पक्ष लिया और अपनी 'सरस्वती' में खड़ी बोली के कवियों को प्रोत्साहन दिया। प्रारम्भिक समय

में खड़ी बोली के छन्द की भी एक समस्या थी। उस समय के लोगों ने उन छन्दों को जिनमें कि ब्रजभाषा में कविता होती थी उसके उपयुक्त न समझा। अब उनके लिए तीन मार्ग थे। एक तो उर्दू की शैली का अनुकरण करना क्योंकि उसकी क्रियाएँ उर्दू की क्रियाओं से समानता रखती थीं किन्तु उसके साथ यह कठिनाई भी थी कि उर्दू की शायरी फारसी-अरबी के छन्द शास्त्रों के नियमों पर चलती थी। दूसरी शैली लावनियों की थी और तीसरी शैली संस्कृत-छन्दों की। तीनों ही शैलियाँ अपनायी गयीं। किन्तु, पिछली दो शैलियाँ अधिक प्रचार पा गयीं। लावनी-शैली जनता को अधिक प्रिय थी। संस्कृत-शैली में नियमों की पाबन्दी कड़ी थी किन्तु उसमें तुक के बन्धनों से छुटकारा मिल जाता था और इसके कारण कविगण तुक के लिए भाव का गला घोंटने तथा शब्दों की तोड़-मरोड़ से बच जाते थे। संस्कृत-छन्दों में संस्कृत के तत्सम शब्दों और समासों के लिए अधिक गुञ्जायश थी। खड़ी बोली की कविता में ब्रजभाषा की भाँति शब्दों को तोड़ने की प्रवृत्ति न थी।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत छन्दों के बड़े हिमायती थे। इन्होंने इस सम्बन्ध में कई लेख लिखे और स्वयं भी संस्कृत-छन्दों में कविता की। संस्कृत-छन्दों के अपनाने से कविता ने अपने बन्धनों से मुक्तिप्राप्त करने में एक कदम आगे बढ़ाया। संस्कृत-छन्दों में लिखी हुई आचार्य द्विवेदीजी की एक कविता का कुछ अंश नमूने के तौर दिया जाता है—

सुरम्यरूपे रसराशिरञ्जिते
विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गयी।
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्रकान्ते, कविते अहो कहाँ?

* * * *

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे।

शरीर तेरा सब शब्द मात्र है
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ॥

इस संस्कृत-शैली को पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सफलतापूर्वक अपनाया। द्विवेदीजी की कविता में इतिवृत्तात्मकता अधिक थी। उन पर कुछ महाराष्ट्र का भी प्रभाव था। काव्य के लिए जैसी उन्माद के निकट आने वाली तन्मयता चाहिए वैसी उनमें न थी। द्विवेदीजी का महत्व उनके कवि होने में उतना नहीं है जितना कि कविनिर्माता होने में। गुप्तजी आदि कवियों ने उनका ऋण मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

उपदेशात्मकता उस समय की प्रवृत्तियों में से थी। आर्यसमाज और राष्ट्रिय उत्थान इस बात के लिए कुछ अंश में उत्तरदायी हैं। पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा में आर्यसमाज के ही प्रभाव से उपदेशात्मकता का प्राचुर्य था। इस प्रवृत्ति का प्रभाव तत्कालीन उपन्यासकारों में भी दिखलाई देता है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप भी उपदेशात्मकता स्वाभाविक थी। हिन्दी उस समय अन्य प्रान्तीय भाषाओं से टक्कर लेना चाहती थी और अपनी श्रेष्ठता दिखाने का यह एक सुलभ मार्ग था। कलात्मकता आने में कुछ देर लगती है।

अब हम खड़ी बोली के प्रारम्भिक और मध्ययुग के कवियों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

पण्डित श्रीधर पाठक (संवत् १९१६—१९८५)

इनकी लेखनी ब्रजभाषा में सिद्ध हो चुकी थी, उसके पश्चात् इन्होंने खड़ी बोली में कविता करना आरम्भ किया। माधुर्य लाने के लिए खड़ी बोली में इन्होंने यत्र-तत्र ब्रजभाषा के त्यों, सौ, तिहुँ, पावै, जानै आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। पाठकजी ने संवत् १९३१ में लावनी की तरज का लिखा हुआ 'एकान्तवासी योगी' नाम का खड़ी बोली का पद्य-ग्रन्थ निकाला। इनकी दूसरी पुस्तक का नाम 'श्रान्त पथिक' है जो कि गोल्डस्मिथ के 'Traveller' का अनुवाद है। इसकी रचना रोला छन्द में हुई है।

'ऊजड़ गाँव' (Deserted Village) का अनुवाद इन्होंने ब्रजभाषा में लिखा है।

पाठकजी ने कई प्रकार के नवीन छन्दों की रचना की है, कुछ अतुकान्त छन्द भी लिखे हैं। आप प्रकृति के परमोपासक थे और प्रकृति की मनोरम क्रीड़ा-स्थली काश्मीर भूमि की प्रशंसा में 'काश्मीर सुषमा' नाम की छोटी सी पुस्तक लिखी है, जिसमें कि हम प्रकृति के आलम्बन-रूप वर्णन का प्रयास देखते हैं। पाठकजी में राष्ट्रीय भावना भी पर्याप्त मात्रा में थी। आपके राष्ट्रीय गीत 'भारत गीत' में संग्रहीत हैं। यहाँ पर पाठकजी की कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

इस पर्वत की रम्य तटी में, मैं स्वच्छन्द विचरता हूँ,
परमेश्वर की दया देख के पशु-हिंसा से डरता हूँ।
गिरिवर ऊपर की हरियाली झरना जल निर्दोष,
कन्द, मूल, फल, फूल इन्हीं से करूँ क्षुधा सन्तोष।

*   *   *   *

उसी भाँति सांसारिक मैत्री केवल एक कहानी है,
नाम मात्र से अधिक आज तक, नहीं किसी ने जानी है।
जब तक धन, सम्पदा, प्रतिष्ठा अथवा यश-विख्याति,
तब तक सभी मित्र, शुभचिन्तक, निज कुल बांधव जाति।

—एकान्तवासी योगी

सान्ध्य अटन—

प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविंद निभ नील सु—
विशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा,
दिव्य दिङ नारि की गोद का लाल-सा।
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित,

पारणा-रक्त रस-लिप्सु, अन्वेषणा
युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु,
स्वर्ण गजराज के भाल का साज, या
कर्ण-उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा।

पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा— (सं० १६१६-१६८८)

आपने भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता की है। आप आर्यसमाजी थे। इस कारण आपके काव्य में उपदेशात्मकता की मात्रा अधिक है। वह उस युग की एक प्रवृत्ति भी थी किन्तु आपकी उपदेशात्मकता भाषा के चमत्कार के कारण कविता में भार-सी नहीं मालूम होती। आपने कुछ शृंगारी कवितायें भी की हैं। आपकी भाषा में कहीं-कहीं ग्रामीण शब्द भी मिल जाते हैं। आपकी लिखी हुई वियोग शृंगार सम्बन्धी एक कविता देखिए—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अम्बर ते ऊँची चढ़ि जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघल के,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी॥
झरेंगे अँगार ये तरनि तारे तारापति,
जारेंगे खमंडल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाँहि,
जो तै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१६२२-२००४)

आपने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही कविता की है। ब्रजभाषा की कविता में आप रीतिकाल के कवि के रूप में आते हैं। आपका 'रसकलस' रीति ग्रन्थों के अनुकरण में लिखा गया है किन्तु उसकी भूमिका गद्य में होने के कारण अधिक मार्मिक और विवेचनात्मक है। इसके अतिरिक्त आपने

ब्रजभाषा में और भी बहुत-सी कवितायें की हैं जो उच्चकोटि की अवश्य हैं किन्तु उनके कारण साहित्य में कुछ नई चीज नहीं आई। आपका मुख्य ग्रन्थ खड़ी बोली संस्कृत छन्दों में 'प्रियप्रवास' के रूप में आया है। वही आपका कीर्तिस्तम्भ है। कुछ दिनों तक आपने खड़ी बोली की कविता भी उर्दू बहरों की प्रणाली में की है।

बात कैसे बता सकें तेरी
हैं मुंह में लगे हुए ताले।
बावले बन गये न बोल सके
बाल की खाल काढ़ने वाले।

इस शैली में व्यापकता अवश्य आ जाती है। इसको हिंदू-मुसलमान दोनों समझ सकते हैं, किन्तु हिन्दी के व्यक्तित्व के जाते रहने का भय रहता है। आकार का बड़ा प्रभाव पड़ता है। उर्दू के आकार में हिन्दी भी उर्दू हो जाती है। इस प्रभाव से बचने के लिये तथा तुक से छुटकारा पाने के अर्थ संस्कृत-छन्दों का प्रयोग किया गया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, द्विवेदीजी ने इस प्रवृति को अधिक प्रोत्साहन दिया।

कुछ स्वामी दयानन्द के प्रभाव से और कुछ जातीयता की प्रेरणा से संस्कृत का अधिक प्रचार हो चला—क्योंकि संस्कृत में जातीय संस्कृति शर्करा-वेष्ठित मुरब्बे की भाँति सुरक्षित थी। संस्कृत के वर्ण वृत्तों का व्यवहार होने लगा। फलतः तुक से तो स्वतन्त्रता मिल गयी, किन्तु वर्णों के नाप-तोल का बन्धन मात्रिक छन्दों सेभी बढ़ गया। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि वर्णवृत्त ऐसे समास, सन्धि और विभक्ति-प्रधान शब्दों के लिये ही उपयुक्त हैं जो कि एक दूसरे के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर ठसे हुए चलते हैं। इन छन्दों का फल यह होता है कि क्रिया केवल हिंदी की रह जाती है और लम्बे-लम्बे समासयुक्त शब्द संस्कृत के होते हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय में यह प्रवृत्ति पूरी तौर से देखने में आती है। उनका 'प्रिय-प्रवास' कहीं-कहीं बिलकुल संस्कृत का सा ग्रन्थ हो गया है। देखिए—

रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेन्दुबिम्बानना ।
तन्वङ्गी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली ॥
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामई ।
श्री राधा मृदु-भाषिणी मृग दृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी ॥

इस शैली में इतना गुण अवश्य है कि ऐसी रचनाएँ-महाराष्ट्र, बङ्गाल, गुजरात आदि संस्कृत प्रधान भाषा-भाषियों की समझ में सुगमता के साथ आ सकती हैं । हिन्दी-छन्दों में शब्दों को क्रीड़ा और नर्तन के लिए बहुत गुंजायश रहती है । खड़ी बोली की संस्कृत छन्दोबद्ध कविता में यद्यपि शब्द तोड़ेमरोड़े नहीं जाते तो भी वृत्त-पूर्ति के लिए भरती के शब्द अवश्य लाने पड़ते है । उपाध्यायजी को भी ऐसा करना पड़ा है । हिन्दी के छन्दों में शब्दों की चपलता और सुन्दरता स्थित रह सकती है । उपाध्यायजी ने तीनों प्रकार की कविता की है । उनके 'रस-कलस' को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'प्रियप्रवास' के लेखक की रचना है और न महावरों की भाषा 'प्रिय-प्रवास' की संस्कृत-गर्भित भाषा से प्रभावित दिखलायी पड़ती है । ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने दिमाग के तीनों खाने अलग रखते हैं ।

उपाध्यायजी के प्रिय-प्रवास में करुणा, विप्रलम्भ, शृङ्गार और वात्सल्य के वियोग पक्ष का प्राधान्य है । श्रीकृष्ण भगवान जाति के लोक-प्रिय नेता के रूप में आते हैं । इस ग्रन्थ में कृष्ण-भक्ति शाखा एक नये रूप में पल्लवित हुई है । श्री कृष्ण में लीला और विलास की अपेक्षा कर्तव्य-बुद्धि अधिक है । थोड़ा बहुत वीर-पूजा का भी पुट आगया है । 'प्रिय-प्रवास' की राधा भी दुखी जनों के लिए आर्द्र-हृदया हैं और उनमें सेवा भाव भरा हुआ है । उनका वैयक्तिक प्रेम अपने आधिक्य के कारण विश्व-प्रेम में समुन्नत हो जाता है—

पाई जाती विविध जितनी वस्तु हैं जो सबों में ।
मैं प्यारे को अमित-रँग औ रूप में देखती हूँ ॥
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी ।
यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा ॥

उपाध्यायजी और गुप्तजी दोनों ही महाकवि प्राचीन परम्परा का पालन

करते हुए अपने काव्य में नवीन भाषा लाकर अपनी कृतियों को समयानुकूल बनाते हैं। 'रस-कलस' में प्राचीन नायकाओं के साथ 'देश-प्रेमिका', 'धर्म-सेविका' आदि नायकाओं का भी वर्णन मिलता है। 'प्रिय-प्रवास' में गिरि गोवर्धन धारण को एक दूसरा ही रूप दिया गया है। गिरिराज का उँगली पर उठाना वास्तविक रूप से नहीं वरन् अलङ्कारिक रूप से माना गया है जो बीसवीं शताब्दी के लोगों के लिए अधिक ग्राह्य है। प्रिय-प्रवास में विरहणी राधा मेघदूत की भाँति पवन को श्रीकृष्ण के पास दूत बनाकर भेजती है।

'प्रिय-प्रवास' में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन अप्रत्यक्ष रूप से आया है। यदि प्रत्यक्ष रूप से आता तो अधिक रस परिपाक होता। 'प्रिय-प्रवास' में मानवी प्रकृति के अतिरिक्त वाह्य प्रकृति का भी अच्छा वर्णन आया है। यद्यपि वे ब्रज की वृक्षावली गिनाते हुए देश विरुद्ध दूषण में पड़ जाते हैं और केशव की भाँति सभी अच्छे-अच्छे वृक्षों का नाम गिना जाते हैं तथापि उनके संध्या-वर्णन, रास-वर्णन, बसन्त-वर्णन बहुत अच्छे हैं। 'प्रिय-प्रवास' में अलंङ्कारों की भी अच्छी छटा दिखलाई पड़ती है। संस्कृत के छन्दों की पूर्ति के लिए उपाध्यायजी को भर्ती के शब्द बहुतायत से लाने पड़े हैं। फिर भी उपाध्यायजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हम 'प्रिय-प्रवास' में ही देखते हैं। खेद है कि वे हिन्दी साहित्य को वैसी दूसरी पुस्तक न दे सके। उपाध्यायजी के इस काव्य से खड़ी बोली की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। यह पुस्तक मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित हो चुकी है। पारितोषिक के बिना ही यह जनता में सम्मानित थी। हाल ही में उपाध्यायजी की 'वैदेही-बनवास' नाम की एक नयी कृति प्रकाशित हुई है। इसका भी कथा भाग कुछ आधुनिकता लिए हुए है।

मैथलीशरण गुप्त—(जन्म संवत् १६४३)

बाबू मैथलीशरण गुप्त वर्तमान युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें राष्ट्रीयता की छाप पूरी तौर से दिखलाई पड़ती है। उनकी प्रारम्भिक काल की कविताएँ पूर्णतया राष्ट्रीय हैं। उनमें विशेष कर 'भारत-भारती' की कविताओं में प्राचीन काल की गौरवान्वित अवस्था की वर्तमान अवस्था से तुलना कर के भविष्य

के लिए आशा का संदेश दिया गया है। गुप्तजी भक्त होते हुए भी बड़े समाज-सुधारक हैं। 'हिन्दू' नाम की पुस्तक में ये उपदेशक के रूप में दिखलायी पड़ते हैं। उनका 'जयद्रथ-वध' बड़ा सुन्दर खण्ड-काव्य है, उसमें राजनीतिक सिद्धान्तों का काव्यमय वर्णन हुआ है। 'अनघ' के मघ में एक दृढ़व्रती-ग्राम-सुधारक के दर्शन होते हैं जो अपने प्रण के लिए सहर्ष आपत्तियों का सहन करता है। दुःखों का सहना ही सच्ची वीरता है। मघ की प्रेयसी भी सुखी नहीं होना चाहती है—

इष्ट मुझे है कहीं रहूँ शत दाह में,
चैन न पाऊँ करूँ न फिर भी आह मैं!

वर्तमान देश सुधारक का इससे पुनीत और कौन सा व्रत हो सकता है? गुप्तजी की 'झंकार' में आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह है, 'झंकार' की कविताएँ रहस्यवाद की कविताएँ कही जा सकती हैं। उनके रहस्यवाद में भावना और अनुभूति की पर्याप्त मात्रा होते हुए भी अस्पष्टता कम है। उनके रहस्यवाद में हम वैष्णवों की भक्ति-भावना का अधिक परिचय पाते हैं

गुप्तजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हम 'साकेत' और 'यशोधरा' में देखते हैं। 'साकेत' में लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता दी गयी है, किन्तु उनका जीवन राम के ही आश्रित है। इसलिए पुस्तक का नाम नायक नायिकाओं के ऊपर न रह कर श्री रामचन्द्र की विलास-भूमि अथवा कर्तव्य-भूमि 'साकेत' के नाम पर रक्खा गया है। साकेत ही कथा का केन्द्र रहा है। राम के विवाह के पूर्व की घटनाएँ उर्मिला के विरह-गान में स्मृति रूप से वर्णित है और वनवास के पश्चात् की कथाएँ कुछ तो हनूमानजी द्वारा कहला दी गई हैं और कुछ वशिष्ठजी ने योगबल से अयोध्या-वासियों को दिखा दी है। चित्रकूट में सारा साकेत पहुँच गया था। साकेत को वर्णन का केन्द्र बना कर एक प्रकार से उर्मिला को मुख्यता दी गयी है क्योंकि वह वहीं रही थी। सभी पात्रों ने उर्मिला के त्याग की प्रशंसा कर उसको प्रधानता दी है। उर्मिला का चरित्र राम-कथा में अनुस्यूत रह कर भी मुख्यता को प्राप्त हुआ है। 'साकेत' में राम के वर्णन से लक्ष्मण के

नायकत्व में अन्तर नहीं आता क्योंकि लक्ष्मण की कथा राम के बिना नहीं चल सकती और लक्ष्मण का गौरव भी राम के अनुचरत्व में है।

'साकेत' के आरम्भ में लक्ष्मण और उर्मिला का जीवन बड़ा हास-विलास पूर्ण दिखलाया गया है। उससे लक्ष्मण और उर्मिला के त्याग की मात्रा और भी बढ़ जाती है। भाई की निःस्वार्थ सेवा के लिए इतने सुन्दर गार्हस्थ्य जीवन का त्याग, राज्य त्याग से कुछ कम नहीं है। स्त्री के प्रेम के लिए सम्राट एडवर्ड अष्टम ने साम्राज्य छोड़ा तो वीरव्रती लक्ष्मण ने सेवा धर्म पालने के अर्थ प्रेयसी के प्रेम और हास-विलास की अवहेलना कर स्वेच्छा से वनवास ग्रहण किया। कितना अपूर्व त्याग!

गुप्तजी ने 'साकेत' में कैकेयी के चरित्र को रामचरित्र मानस की कैकेयी की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठा दिया है। उसका पश्चात्ताप भरत के पश्चात्ताप से बढ़ जाता है—"युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी। रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी" उसी के साथ यह मानना पड़ेगा कि लक्ष्मण का चरित्र कुछ गिरा दिया है। रामचन्द्रजी का चरित्र कर्तव्य परायण होते हुए भी शुष्क और नीरस नहीं हैं। चित्रकूट में गुप्त जी ने सीता के पारिवारिक जीवन के सहवास सुख (Joy of fellowship) की अच्छी झाँकी दिखायी है।

गुप्तजी और गोस्वामीजी के 'मानस' के राम में एक और भी अन्तर है। तुलसी के राम मनुष्य रूप में भी ब्रह्म हैं, और गुप्तजी के राम ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं। वे संसार में देवताओं के हित के लिए इतने नहीं आये जितने कि संसार में मानवता के प्रसार के लिए। देखिए :—

"मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल हीन, दीन शापित हैं।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

साकेत के राम आर्य संस्कृति के अग्रदूत हैं—

'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।'

साकेत की सांस्कृतिकता और उसके नायक का एक विशेष संस्कृति के प्रचारक के रूप में आना उसके महा काव्यत्व को पुष्ट करता है।

'साकेत' की मंथरा रामचरितमानस की मन्थरा की भांति वाक-पटु और वाचाल तो नहीं है, किन्तु वह 'भरत से सुत पर भी सन्देह' कह कर गहरी चोट मारती है। वही बात कैकेयी के मन में जम जाती है।

वर्तमान युग में प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य की ओर अधिक प्रवृत्ति है। प्रबन्ध काव्य प्राचीन भावनाओं के अधिक अनुकूल पड़ता है क्योंकि उसमें कवि अपने व्यक्तित्व को छिपाये रख कर दूसरों के भावों का ही उद्घाटन करता है। नवीनयुग में व्यक्तित्व का अधिक महत्व है। आधुनिक कविगण अपने व्यक्तित्व को छिपाते नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मुक्तक काव्य, उतावलेपन की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल है, किन्तु प्रबन्ध-काव्य में कल्पना की जो सार्थकता रहती है, वह मुक्तक काव्य में नहीं। प्रबन्ध काव्य में कल्पना एक सहारे से चलती है, वह आकाश कुसुम-सी निराश्रय नहीं रहती। प्रबन्ध काव्य में भाव घटना के साथ चलते हैं। और घटना एवं भावों के तारतम्य में सामञ्जस्य रहता है।

गुप्त जी ने 'साकेत' लिखकर वर्तमान युग के प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी अभाव को दूर किया है। प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से 'साकेत' बहुत अच्छा है, किन्तु उसका नवम सर्ग विरह-वर्णन के बाहुल्य के कारण भाव प्रधान होगया है। इसमें वर्तमान युग का प्रगीतत्व है। सीता का 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' वाला गीत जङ्गल में मङ्गल की भावना दृढ़ करता है। विरह की विषम वेदना की अग्नि में घटनाक्रम कुछ दग्ध-सा हो जाता है। यद्यपि उर्मिला का विरह उसके त्याग का भी माप है तथापि यदि भाव का पलड़ा अधिक न झुक पाता तो अच्छा ही होता।

'साकेत' में गाँधीवाद के विनत विद्रोह और सरल जीवन का पर्याप्त प्रभाव है। यह ग्रन्थ भी मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ है।

'यशोधरा' में नारी के सच्चे त्याग का आदर्श दिखाया गया है। नीचे के शब्दों में नारी-जीवन का महत्व कितना सुन्दर बन पड़ा है—

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

यशोधरा को इस बात का दुःख नहीं है कि वे वन को चले गये वरन् इसका कि वे उसे पथ-बाधा समझकर उससे बिना कहे चले गये—

सखि, वे मुझसे कह के जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी -पथ-बाधा ही पाते ?

यही है वर्तमान युग की नारी का गौरव।

गुप्तजी की भाषा बड़ी शुद्ध और परिमार्जित है। संस्कृतगर्भित होते हुए भी प्रसाद गुण से पूर्ण है। गुप्तजी ने कहीं-कहीं व्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। वह सर्व साधारण-गम्य होती हुई भी उर्दू की ओर अधिक नहीं झुकी है। गुप्तजी की भाषा ने मध्यम मार्ग अनुसरण किया है। आपने भी नये छन्दों का ही निर्माण किया है। अलङ्कारों का प्रयोग आपने बड़ा कौशल पूर्ण किया है। इसमें नवीन ढंग के प्रभावसाम्य तथा मूर्त से अमूर्त की तुलना के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। लक्षणा और व्यंजना के सहारे भी गुप्तजी ने अच्छा चमत्कार उत्पन्न किया है। गुप्तजी बंगाली भाषा से पद्यानुवाद करने में भी विशेष रूप से सफल हुए हैं। उनके 'मेघनाद-वध', 'विरहिणी व्रजाँगना' और 'प्लासी का युद्ध' इस बात के प्रमाण हैं।

'साकेत' और 'यशोधरा' के पश्चात् 'द्वापर' और 'सिद्धराज' नाम की गुप्तजी की दो कृतियाँ निकली हैं। 'द्वापर' में कृष्ण-चरित्र का वर्णन आया है। राम भक्त होते हुए भी गुप्तजी ने कृष्ण-काव्य के प्रति उदासीनता नहीं दिखलाई। इतना ही नहीं उन्होंने तो बुद्धावतार की भी कथा लिखी है और सिक्ख-गुरुओं का भी यश गान किया है। गुप्तजी की राष्ट्रीयता धार्मिक उदारता में परिणत हो जाती है। काबा और कर्बला नाम का इस्लाम धर्म सम्बन्धी भी एक काव्य उन्होंने लिखा है। उसके द्वारा मुसलमानों के साथ हमारी सहानुभूति बढ़ेगी। उसमें करुणा की मात्रा अधिक है। करुणा हम को एक दूसरे के निकट लाती है। गुप्तजी अपने सम्प्रदाय के कट्टर भक्त हैं, किन्तु उनमें साम्प्रदायिकता नहीं आने पाई है। इतना अवश्य है कि गुप्त जी

की जिस प्रतिभा का परिचय 'साकेत' में मिलता है उतना 'द्वापर' और सिद्धराज में नहीं। 'द्वापर' के प्रारम्भ में 'मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग' कह कर उन्होंने अपनी अनन्यता भी स्थिर रक्खी है किन्तु उन्होंने तुलसीदास जी की भाँति वेणु और धनुष बाण में भेद नहीं किया है।

धनु बाण वा वेणु लो श्याम रूप के संग
मुझ पर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग॥

'द्वापर' में उपदेश का रूप प्रधानता प्राप्त कर गया है और इसी कारण उसमें कुछ प्रयत्न-सा दिखलायी पड़ता है। सच्ची कला प्रयत्नहीन होती है। प्रयत्न में सौन्दर्य का अभाव हो जाता है। द्वापर में संवाद के नाटकीय ढंग का अनुसरण किया गया है। उसमें कथा सूत्र सम्बद्ध नहीं है। अलग-अलग चरित्रों की छोटी छोटी भाव प्रधान कथाओं की सृष्टि की गई है किन्तु सबमें सुधार और विचार स्वातंत्र्य की एक व्यापक भावना अनुस्यूत है।

'नहुष' गुप्त जी की हाल की रचनाओं में से है। इसमें मानव-गौरव की एक झाँकी है और पतन के पश्चात् उत्थान का आशामय सन्देश है:—

चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना
गिरना ही मुख्य नहीं मुख्य है संभलना
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़ के रहूँगा मैं

हिन्दी के अन्य राष्ट्रीय कवियों में श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (जन्म सं० १९४०), लाला भगवानदीन 'दीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्णशर्मा 'नवीन' और पं० रामनरेश त्रिपाठी प्रमुख हैं। श्री सुभद्राकुमारी चौहान का नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। 'सनेही' जी और 'दीन' जी दोनों ने जन-सुलभ भाषा में कविता की है। अन्तर केवल इतना है कि दीनजी ने प्राचीन वीरात्माओं की गुणावली का गान किया है और सनेहीजी का ध्यान वर्तमान राजनीति पर अधिक है। सनेहीजी ने राष्ट्रीय कविताएँ 'त्रिशूल' के नाम से की हैं। आपकी कविताओं में जीवन-रण में डटे रहने का सन्देश है, देखिए—

नहीं पददलित होने, दबने दाँत दिखाने आये हैं ।
कठिन काम करने आये हैं, भार उठाने आये हैं ॥
जी न चुराओ जीवन रण से, समर सूरवत डटे रहो ।
ईश्वरीय-आदेश यही है निर्बलता से हटे रहो ॥
धीर बनो वर वीर बनो ।
गम्भीर बनो दृढ़ हृदय बनो ॥

स्वभावतः राष्ट्रीय कवियों की भाषा जन साधारण के योग्य होती है क्योंकि यदि वह लोगों की समझ में न आये तो उन पर असर क्या करेगी । पं० माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म संवत १९४५) और 'नवीन' (जन्म संवत १९६१) केवल कवि ही नहीं हैं वरन् राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रमुख कार्यकर्ता हैं । उन्हें राष्ट्रीय जीवनका निजी अनुभव है और राष्ट्रीय भावना को बड़े मार्मिक रूप में व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं । इन दोनों की कविताओं में करुणा की मात्रा है । चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीयता शुष्क नहीं है और उसमें बड़ी कोमल भावनाओं का समावेश हो जाता है । उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' बड़ी ही सुन्दर चीज है, देखिऐ—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक ॥
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने ।
जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

चतुर्वेदीजी बड़े भावुक भक्त भी हैं । 'हिम किरीटिनी' नाम के उनके काव्य संग्रह में कुछ कविताएँ परमात्मा को सम्बोधित कर कही गयी हैं—

तुम रहो न मेरे गीतों में
तो गीत रहें किसमें बोलो ?

तुम रहो न मेरे प्राणों में
तो प्राण कहें किसको बोलो ?
मेरी कसकों में कसक-कसक
मेरी खातिर बनवास करो !
मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो।

चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीय कविताओं में एक करुण कथा रहती है जो उन्हें कोमलता और रसार्द्रता प्रदान करती है। नवीनजी की कविता में कुछ उग्रता रहती है। उनके विप्लव गान ने काफी ख्याति पायी। उनकी प्रेम सम्बन्धी कविता में कहीं-कहीं नीति और सदाचार की भी अवहेलना मिलती है। यह आधुनिक स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति की अतिशयता है। विप्लव गान की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिसमें उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आये—
एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ आयें,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का
धुआँ धार जग में छा जाए,
बरसे आग जलद जल जाएँ
भस्म सात भूधर हो जाएँ,
पाप, पुण्य, सदसद भावों की
धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ,

श्री रामनरेशजी त्रिपाठी—(जन्म संवत् १९४६) ने 'मिलन' 'पथिक' और 'स्वप्न' तीन खण्ड काव्यों की रचना की है। वे तीनों खण्ड काव्य बड़े मर्मभेदी और हृदय को स्पर्श करने वाले हैं। इनकी भाषा में

संस्कृत पदावली का सौन्दर्य दर्शनीय है। स्वप्न में देश प्रेम और त्याग के उच्च आदर्श हैं और आशावाद का एक अपूर्व संदेश है :—

विघ्न समस्त करें पद-पद पर
मेरे आत्म तेज को जागृत,
निष्फलता मुझको अधिकाधिक
करे सचेष्ट सतर्क दृढ़ व्रत।
पश्चाताप मार्ग दिखलावे
भय रक्खे चौकसी निरन्तर,
करे निराशा इस जीवन को
शान्त स्वतन्त्र सरल शुचि सुन्दर।

वर्तमान काल की राजनीतिक कविता में थोड़ा अन्तर है। वीर-गाथा काल के वीर-काव्य में राष्ट्रीय भाव न थे। एक राजा का छोटा सा राज्य ही राष्ट्र था। लोग वैयक्तिक गौरव के अधिक भूखे रहते थे, जातीय गौरव उनके लिए अधिक मूल्य नहीं रखता था। भूषण और लाल के समय में वैयक्तिक गौरव की अपेक्षा हिन्दुत्व का गौरव बढ़ गया था। हिन्दुओं की लाज रखने की दुहाई दी जाती थी। वर्तमान युग में देश की दुहाई दी जाती है। हिन्दू मुसलमान ईसाई सब राष्ट्र के अङ्ग माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त आज कल दूसरों को मारने की अपेक्षा अत्याचार के सहन करने में अधिक वीरता समझी जाती है।

श्री श्यामनारायण पाण्डे—की 'हल्दी घाटी' वीर रस की सुन्दर पुस्तक है किन्तु इसकी राष्ट्रीयता प्राचीन धारा के अनुकूल हिन्दुत्व की है। इसकी भाषा में सुन्दर प्रवाह है और उसमें गति के भड़कीले चित्र उपस्थित हो जाते हैं। महाराणा की तलवार का वर्णन देखिये :—

बैरी दल को ललकार गिरी,
वह नागिन सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो बचो,
तलवार गिरी, तलवार गिरी॥

पैदल से हय दल, गज दल में,
छप-छप करती वह विकल गई।
क्षण कहाँ गई कुछ पता न फिर,
देखो चम चम वह निकल गई॥
क्षण इधर गई क्षण उधर गई,
क्षण चढ़ी बाढ़ सी उतर गई।
थी प्रलय, चमकती जिधर गई,
क्षण शोर होगया किधर गई॥

ठा० गोपालशरणसिंह—(जन्म सं० १९४८)

आपकी कविताओं में प्रेम साधन का प्रभाव परिलक्षित होताहै। 'माधवी' नाम की पुस्तक में आपकी सरस और सुन्दर रचनाओं का संग्रह है। आपकी भाषा सरल और सुबोध है। किन्तु फिर भी आपने बड़े गम्भीर और ऊँचे भावों का समावेश उत्तमता के साथ किया है। आपने खड़ी बोली में कवित्त और सवैये लिखकर उसको प्राचीन काव्य-पद्धति में ढाला है। एक उदाहरण लीजिये—

शरद जुन्हाई-सी है गात की गोराई चारु
आनन अनूप मानो फुल्ल जलजात है।
किस भाँति कोई कभी यह बतलावे भला,
कब दिन होता और होती कब रात है
उसमें मिली है प्रभा शशि और सूर्य की भी,
क्या नहीं स्वयं ही सिद्ध होती यह बात है?
किसने न देखी वह रूप-राशि बार बार,
तो भी अनदेखी वह होती सदा ज्ञात है।

आपकी 'कादम्बिनी' में आपकी प्रतिभा और भी विकसित हुई है। वर्तमान युग की प्रवृति के अपवाद स्वरुप इस पुस्तक में ठाकुर साहब ने जीवन के सुखमय पहलू को लिया है और प्रकृति का हँसता-बोलता रूप

देखा है। आप चराचर सृष्टि में एक चिर उल्लास के दर्शन करते हैं। कहीं-कहीं आपकी उक्तियाँ बड़ी अनूठी हैं। ओस को अश्रु-बिन्दु तो बहुतों ने कहा है किन्तु उसे श्रम-बिन्दु थोड़े ही लोगों ने कहा होगा। देखिए चाँदनी के सम्बन्ध में कवि कहता है—

नभ से अवनी पर आने में,
मानो वह भी थक जाती है।
श्रम स्वेद-कणों से ओस-बिन्दु,
धरणी-तल पर टपकाती है।

आपके 'सुमना' नाम के काव्य-संग्रह में गान्धीवाद से सम्बन्ध रखने वाली सेवा और कष्टसहिष्णुता की महत्ता बतलाने की प्रवृत्ति है और फूलों और कलियों का आश्रय लेकर सुन्दर अन्योक्तियाँ दी हैं। घृणा के बदले प्यार का सन्देश देखिए—

तुम सुख समृद्धि की छाँह धरो,
मैं दीन दुखी की बाँह धरूँ,
तुम घृणा करो मैं प्यार करूँ।

सियारामशरण गुप्त (जन्म संवत् १९५२)

सियारामशरणजी ने कथात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार की कविताएँ लिखी है। आपकी कथात्मक कविताएँ 'आर्द्रा' में छपी हैं। ये बड़ी करुणापूर्ण हैं। इनमे बड़े सजीव चित्र खींचे गये हैं। 'विषाद' में भावप्रधान कविताएँ हैं। 'पाथेय' में हम कवि को विचारक रूप से देखते हैं। इनकी विचार-पूर्ण कविताओं में आशावाद भरा हुआ है। घड़ा नीचे रीता जाता है और भरा ऊपर उठता है। कण्टक पथ में आकर पैर में गड़ जाता है किन्तु वह पथिक को भारी गर्त में गिरने से बचाता है। रात्रि प्रभात को जन्म देती है—

यह क्या हुआ! दीख पड़ती थी तू तो काली-काली।
कहाँ छिपाये थी उस तम में यह अपूर्व उजियाली।

अपने अग्रज की भाँति सियारामशरणजी पर भी गान्धीवाद का पूरा असर है। उनकी 'बापू' नाम की पुस्तक में गान्धीजी का स्तवन बड़ा हृदय-प्रेरित और वास्तविक है। देखिए—

इन्धन-रहित शुद्ध अग्निज्वाल,
नित्य युवा तुम हे यशस्वि सुप्रदीप्त भाल।
एकमात्र आत्मवश,
उज्वलित सर्वथैव एकरस,
श्रान्ति नहीं तुमको;
काल की अशान्ति नहीं तुमको॥

सियारामशरणजी ने अपनी नवीन कृति 'उन्मुक्त' में एक कल्पित युद्ध के वर्णन में वर्तमान युद्ध की भीषणता की काली छाया दिखाकर अहिंसावाद का उपदेश दिया है—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल।

* * *

हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर॥

युद्ध का एक भीषण दृश्य देखिए—

युग-युग का श्रम साध्य, साधना फल वह नर का
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय विद्यालय
पूजालय गृह भवन कुटीरों के चय के चय
गिर कर अपनी ध्वंस चिताओं में थे जलते

हाल ही नकुल और नोआखाली नाम की उनकी दो छोटी-छोटी काव्य पुस्तकें निकली हैं। नकुल में महाभारत की कथा के आधार पर छोटों को मान देने की बात बताई गई है:—

छोटे के लिए बड़े से बड़ा समर्पण
किया जाय तभी धर्म धन का संरक्षण

नोआखाली में गाँधीवादी नीति के अनुसार दिखाया गया है कि

मुसलमानों में भी सब लोग बुरे नहीं होते। उसमें रमजानी और कासिम के चित्र बड़े उज्ज्वल हैं।

पुस्तक में नोआखाली के हत्याकाण्ड का जोरदार शब्दों में प्रयोग है किन्तु न उसमें कटुता आई है न कला का ह्रास हुआ है।

ये घर बुझी चिताओं से हैं—

गाँव नहीं मरघट यह है
जीवित दीख रहे जो उनकी
मरण वेदना दुस्सह है।

नवीन युग की नवीन धारा

यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही समय से युग का अरुणोदय हो गया था, तथापि उस समय में प्राचीन काल की झलक थी। नये युग की भावनाओं को लेकर कविता को भी अपने बन्धन अखरने लगे और वह स्वतंत्रता की ओर बढ़ी। उपाध्यायजी और मैथिलीशरण गुप्त के समय में नवयुग का वास्तविक उदय हुआ था। भारतेन्दु युग के लिए तो हम गुप्तजी के शब्दों में यही कहेंगे कि—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु देखो रात्रि का जाना हुआ।

पन्त और निराला की कविता में हमको नवयुग के सूर्य की पूर्ण प्रभा में प्रस्फुटित स्वातंत्र्योन्मुखी रश्मियों के दर्शन मिलते हैं। यह स्वातन्त्र्य प्रवृति छन्द और भाव दोनों में ही है। तुकबन्दी का बन्धन तो उपाध्यायजी-प्रभृति विद्वानों द्वारा संस्कृत-छन्दों के प्रयोग से ही जाता रहा था। निरालाजी के हाथ में तो छन्द ने पूर्ण मुक्ति प्राप्त करली है। नवीन कलाकारों के हाथ में कविता छन्द के वर्णों और मात्राओं से नहीं बँधी हुई है। वह उन्मुक्त सरिता की भाँति अपनी ताल और लय के साथ बहती है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि एक छन्द की सभी पंक्तियाँ बराबर वर्णों या मात्राओं की हों। लोग

ऐसे छन्दों को रबड़, केंचुआ या केंगारू छन्द के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि यह बात हमको माननी पड़ेगी कि किसी पंक्ति को लय उसके माप पर निर्भर नहीं है। तथापि यदि कम से कम दो पंक्तियाँ एक से माप की हों तो वे हमारे कानों को कुछ अधिक सुखद मालूम पड़ेंगी, क्योंकि इसमें श्रवणेन्द्रिय को कुछ कम परिश्रम होगा। ऐसे छन्द का एक उदाहरण निरालाजी की 'जुही की कली' से दिया जाता है—

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्वप्न-मग्न,
अमल-कोमल तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल, पत्राङ्क में।

छन्द के स्वातन्त्र्य के साथ वर्तमान कविता का सङ्गीत के साथ अधिक सम्बन्ध होता जाता है। आधुनिक काव्य में साहित्य, सङ्गीत और कला तीनों का समन्वय रहता है। आजकल गीत भी बड़े सुन्दर साहित्यिक रचे जाने लगे हैं। प्रचलित लोक-गीतों में साहित्यिक प्राण फूँक दिये गये हैं। उपमा और रूपक भी नये हैं और शब्द-चित्र भी अच्छे रचे जाते हैं।

काव्य सम्बन्धी विशेषताएँ—

कुछ तो अँग्रेजी के आधार पर भाषा में नये अलङ्कार आ गये हैं और कुछ पुराने अलंकारों में नवीनता लाई गयी है। नये अलङ्कारों में विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) और मानवीकरण (Personification) मुख्य हैं। विशेषण-विपर्यय का एक उदाहरण लीजिए—'बच्चों का तुतला भय', भय तुतला नहीं होता। तुतला उस भाषा का विशेषण है जिसमें कि भय प्रकट किया जाता है। 'गीले गान', गान 'गीले' नहीं होते। 'गीले' दुःखी गायक के नेत्रों का विशेषण है यहाँ पर यह विशेषण नेत्रों से हटा कर गान में लगा दिया गया है। ऐसे प्रयोगों में लक्षणा से अर्थ लगाया जाता है। (लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ में बाधा पड़ने पर किसी प्रयोजन या रूढ़ि के आधार पर दूसरा अर्थ लगाया जाता है, जैसे—लाल पगड़ियाँ आती हैं, पगड़ियाँ नहीं चलतीं वरन् लाल पगड़ी पहनने वाले पुलिस के

सिपाही चलते हैं। ईंधन खरीदते वक्त हम पूछते हैं 'क्या गधा लोगे' हम गधा नहीं खरीदते वरन् उसके ऊपर लदी हुई लकड़ी खरीदते हैं—यही लक्षणा है।)

जहाँ पर मनुष्येतर पदार्थों में मनुष्यों का सा व्यवहार दिखाया जाय वहाँ मानवीकरण (Personification) अलङ्कार होता है। जुही की कली के लिये 'सोती थी सुहाग भरी' कहना इसी का उदाहरण होगा। 'अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना' भी इसी के अन्तर्गत है। ऐसे प्रयोगों से भाषा की लाक्षणिकता बढ़ी है और कहीं-कहीं जरूरत से ज्यादा बढ़ गया है।

उपमाओं में परम्परा युक्त उपमानों के अतिरिक्त नये उपमान आये हैं। अब मूर्त वस्तुओं की अमूर्त से और अमूर्त वस्तुओं की मूर्त से उपमायें अधिक दी जाती हैं। जैसे—

१—'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल'।

२—'सजग कल्पना सी साकार'।

३—'इच्छाओं सी आसमान'।

४—'जीवन की जटिल समस्या है बढ़ी जटा सी कैसी'।

पहले तीन उदाहरणों में उपमेय अमूर्त है और उपमान मूर्त, चौथे में इसका उलटा है। आज कल की उपमाओं में, आकार और धर्म की अपेक्षा प्रभाव का साम्य अधिक होता है। आजकल शब्दों के साम्य का (जैसे अर्क = सूर्य और अकौवा, बेर = फल विशेष और समय) कम चलन है। मूर्त की अमूर्त से उपमा देने में प्रायः प्रभाव का साम्य आ जाता है क्योंकि उनमें रूप या आकार का सादृश्य तो रहता ही नहीं है, धर्म के साम्य की थोड़ी झलक होती है किन्तु प्रभाव का साम्य अधिक है। बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल, तर्क में एक के बाद दूसरी युक्ति निकलती चली जाती है और वे प्रायः एक दूसरी में उलझी होती हैं। इसमें बहुत्व का, उलझेपन का, विस्तार का प्रभाव जो तर्क से पड़ता है वैसा ही अलकों से पड़ा हुआ बतलाया गया है। 'बन-बाला' के गीतों सा निर्जन में फैला है मधुमास'—इसमें भी ऐसा ही

प्रभाव साम्य है। निर्जन में दूर से आते हुये गान का जो माधुर्यमय प्रभाव पड़ता है इसमें है। 'रथ भी मानो एक रिक्त घन था, जल भी न था न वह गर्जन था।' इसमें मूर्त की मूर्त से उपमा दी है। बरस कर लौटे हुए बादलों में रिक्तता की समानधर्मता तो है ही किन्तु एक निस्सारता और नैराश्य का प्रभाव साम्य भी है। गरजते हुए शब्द करते हुए रथ में दर्प और उत्साह का प्रभाव होता है। गर्जन शून्य रथ में उदासी की व्यञ्जना है। यह प्रभाव साम्य कभी कभी प्रतीकों (Symbols) के रूप में भी आता है, जैसे सफेदी पवित्रता का प्रतीक है और कालापन दुष्टता का। चाँदनी और अँधेरी सुख-दुःख के प्रतीक हैं। देखिये:—

लिपटे सोते थे मन में, सुख दुःख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अन्धेरी मिलती, मालती कुञ्ज में जैसे।

आजकल के काव्य में शब्द-चित्र भी अच्छे खींचे गये हैं। प्रसादजी ने तो चिन्ता जैसे अमूर्त पदार्थों के भी शब्द चित्र खींचे हैं। पन्तजी के छोटे चित्र बड़े ही मोहक हैं, जैसे—निर्झर को 'मूक गिरिधर का मुखरित गान' कहना, बापू के लिये 'अस्थिशेष' का प्रयोग।

विषय गत विशेषताएँ—

यह तो रही छन्द और कला की बात। विषय के हिसाब से नवीन युग में पाँच विशेष प्रवृत्तियाँ दिखलायी पड़ती हैं—

(१) दुःखवाद—इसको चाहे देश की करुणाजनक परिस्थिति की झङ्कार समझा जाय अथवा लोगों की अतृप्त वासनाओं की झाँकी, किन्तु वर्तमान कविता में दुःखवाद की मात्रा अधिक है। इसी दुःखवाद को भुलाने के लिए हालावाद अथवा हलाहलवाद चला है। दुःख से निवृत्ति के लिए दुःख को भुलाने वाली हाला की मस्ती चाही जाती है (मुसलमानी राज्य के स्थापित हो जाने पर देश की विवशता ने अपने को ज्ञान और भक्ति के प्रवाह में बहा दिया था) और कभी-कभी इससे बढ़ कर संसार का नाश चाहा जाता है और उसके लिए भयङ्कर प्रलयङ्कर का आह्वान किया जाता है। अथवा 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' की पुकार लगायी जाती है।

संसार ही न रहेगा तो संसार में दुःख कहाँ रहेगा ? 'न मरीज रहेगा न मर्ज' वही नवीनजी का 'विप्लवगान' जिसकी कुछ पंक्तियाँ नवीनजी की कविताके प्रसङ्ग में दी जाचुकी हैं इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। कुछ लोग, जैसे प्रसाद पन्त आदि अपनी कल्पना के सौन्दर्य में वर्तमान की निराशा को भुला देते हैं। वे अतीत और भविष्य के गीत गाने में शान्ति पाते हैं। पन्तजी कभी तो इस संसार के सरसों के सुख और सुमेरु-से दुःख से ऊब कर कहने लगते हैं कि 'शान्ति सुख है उस पार'। यहां घोर नैराश्य की लहर है जो सदा नहीं रहती। कभी वे कहते हैं कि 'मानव जग में बट जावे सुखदुःख से औ दुख सुख से'। वे दोनों के मिलन में ही जीवन की परिपूर्णता देखते हैं। 'सुखःदुख के मधुर मिलन में यह जीवन हो परिपूरन' वे वर्तमान में भी पर्याप्त सुख का दर्शन करते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा दुःख को ही सुख मानकर मग्न रहती हैं, उन्होंने उसे ही अपना आराध्य बनाया है। अब प्रगतिवाद में यह दुःखवाद आसमान से उतर कर पृथ्वी पर आ गया है और वह वैयक्तिक न रह कर उसमें पीड़ित मानवता का करुणा-क्रन्दन और हाहाकार सुनायी पड़ता है।

(२) मानव-गौरव और व्यक्तिवाद—नवीन युग में मनुष्य का मूल्य बढ़ गया है, धर्म और राजनीति ने जिस दलित मानवता को दबा रक्खा था वही अब ऊपर उठगयी है। केवल राजा-महाराजाओं के ऊपर ही आजकल कविता नहीं होती वरन् 'इष्टदेव' के मन्दिर को पूजा-सी विधवा और पेट पीठ एक किये हुए, लकुटिया टेके हुए, मुँह-फटी पुरानी झोली को फैलाने वाला भिक्षुक भी काव्य का विषय बन जाता है। लोग अब भगवान् के दर्शन देवालयों में न करके मजदूरों को तपोभूमि में करते हैं। अब तो प्रगति-वाद में शोषितों और पीड़ितों को ही पूजा का विषय माना जाता है। पुराने मान बदल गये हैं। देखिए:—

जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख हरता मन।
मूढ़ असभ्य और दूषित ही हैं भू के उपकारक॥

इस प्रवृत्ति में व्यक्तिवाद को आश्रय मिला। व्यक्ति समाज से दब कर नहीं, वरन् अपना अस्तित्व बनाये रख कर सहयोग देना चाहता है।

उभरे हुए व्यक्तिवाद के कारण नवीन युग के काव्य में मुक्तक का चलन बढ़ा।

अब प्रगतिवाद के प्रभाव से व्यक्तिवाद सामूहिकता की ओर झुकता जाता है। व्यक्ति की मुक्ति की अपेक्षा सामूहिक मुक्ति की मांग की जाती है।

(३) **स्वदेश-प्रेम**—यह भी वर्तमान स्थिति और मानवता के आदर का स्वाभाविक परिणाम है। आज कल के स्वदेश-प्रेम में द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता की अपेक्षा देश तथा अपनी वस्तुओं की गौरव-भावना अधिक है। कष्ट-सहिष्णुता की भी विशेष झलक दिखलायी पड़ती है।

(४) **प्रकृति के प्रति नया दृष्टिकोण**—अब कविगण प्रकृति को आलम्बन-रूप से देखना चाहते हैं—कभी कभी उसका मानवीकरण भी कर देते हैं और चर-अचर में एक साम्यमय सहानुभूति देखने का उद्योग करते हैं। प्रकृति में जड़ता के अतिरिक्त कुछ भावप्रवणता भी दिखलायी पड़ती है। प्रकृति उनके लिए आत्मीय रूप धारण कर बोलती-सी है। इसी प्रवृत्ति को 'छायावाद' के नाम से पुकारा जाता है। प्रकृति प्रेम के साथ देश प्रेम भी मिला हुआ है अथवा यों कहिए कि देश के प्राकृतिक स्थलों के प्रति स्वाभाविक अनुराग हो जाता है। भारत की गौरव-गरिमा गाने में 'अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल' का भी वर्णन आ जाता है। भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य के उल्लास से प्रेरित प्रसादजी का यह गीत स्मरणीय रहेगा,

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा,
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुङ्कुम सारा।

अंचल जैसे प्रगति वादी कवि प्रकृति से ऊबते जाते हैं किन्तु पंतजी का प्रकृति-प्रेम अक्षुण्ण है।

(५) **आत्माभिव्यंजना**—आजकल की कविता कुछ-कुछ अन्तर-मुखी होती जा रही है। घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा आन्तरिक भावों की अभिव्यंजना अधिक है। पहला कवि अपने भगवान् में अथवा अपने काव्य के नायक में, जो चाहे मनुष्य हो या देवता, अपना व्यक्तित्व समर्पित कर देता

था। आजकल स्वतंत्रता के युग में सभी बड़े हैं। नाइयों की बरात की भाँति इस युग में सभी ठाकुर हैं। कोई किसी से पोछे नहीं। इसी व्यक्तित्व प्राधान्य के कारण आजकल की कविता मुक्तक की ओर झुकी हुई है। इसके मूल में भी जीवन के प्रति कुछ असन्तोष की भावना छिपी है। बाहर से ऊब कर ही लोग भीतर की ओर झुकते हैं। संत कवि संसार से स्वेच्छा से विरक्त हुए थे, आजकल के लोग ठोकरें खाकर असंतोष के कारण। प्राचीन लोग संसार को असार मान कर उसका त्याग करते थे चाहे उसके मूल में भी राजनैतिक असफलता हो। आजकल का त्याग खट्टे अँगूरों वाली लोमड़ी का सा है। 'तिया मुई धन सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी'। किन्तु फल एक ही है—वाह्य की अपेक्षा अन्तः में सुख और शान्ति की खोज। प्रगतिवाद के प्रभाव से अब यह प्रवृत्ति भी कम होती जाती है।

आजकल की कविताएँ कुछ व्यक्तित्व को लिए हुये हैं। यह बात उसे रीतकाल की कविता से पृथक कर देती है। (क्योंकि रीतिकाल की कविता खानापूरी मात्र थी और उसमें व्यक्तिगत प्रतिभा के लिए कम गुञ्जाइश थी) भक्तिकाल में प्रतिभा की तो गुञ्जाइश थी किन्तु उस काल में कवि लोग अपने इष्टदेव के आगे अपने व्यक्तित्व को नगण्य समझते थे। व्यक्ति का मान जैसा वर्तमान युग में हुआ वैसा और किसी में नहीं। इस प्रवृति के द्वारा आजकल के काव्य में जीव और ईश्वर के सम्बन्ध के 'रहस्यवाद' की झङ्कार सुनाई पड़ती है।

आचार्य शुक्लजी के मत से छायावाद और रहस्यवाद में पाँच प्रभाव लक्षित होते हैं—

१—द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से (बिना भावुकता के बात को जैसा का तैसा कह देना—इसे अँग्रेजी में Matter of factness कहते हैं) ऊबे हुये मन की प्रतिक्रिया, २—अँग्रेजी के भावप्रधान गीत ३—भक्तकवियों के गेय गीत ४—उर्दू शायरी ५—रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि।

श्री जयशङ्कर प्रसाद (सं० १९४६—१९९४)

प्रसादजी छायावाद और रहस्यवाद के प्रथम प्रवर्तकों में अग्रगण्य हैं।

द्विवेदी युग के पश्चात जो नया युग चला वह उन से ही प्रारम्भ होता है। प्रसादजी की कविता की तीन प्रवृत्तियाँ ये हैं—वैयक्तिक तथा ईश्वरोन्मुख प्रेम, प्रकृति प्रेम और प्राचीन गौरव। आपकी कविता में प्रेम की पीड़ा अधिक दिखलाई देती है। आपका प्रेम लौकिक की ओर जाने वाला है। आपके वर्णनों में एक रहस्योन्मुखी भावना रहती है। वर्णन पार्थिव होते हुए भी स्वर्ग की ओर संकेत करते हैं। आपके प्रेम का विषय एक अव्यक्त भावना ही है जो कि नाना रूपों में इस संसार में व्यक्त होती रहती है और व्यक्तित्वशून्य होती हुई भी साधक से विशेष सम्बन्ध रखती है।

प्राची के अरुण मुकुर में,
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूँ,
अपनी आँखों का तारा।

आप प्रेम की वेदना को बड़ा महत्व देते हैं और दुख में ही सुख देखना चाहते हैं। तुलसीदास की तरह आप भी प्रेम-पिपासा का बढ़ना पसन्द करते हैं। देखिए:—

प्यास कैसी तुम्हारी पपीहा!
कम न होकर बढ़ी जा रही हरि,
लो, वही कह रहा—
पी! कहाँ? पी! कहाँ?

आप के काव्य पर बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव है और उनके दुःखवाद की थोड़ी झलक भी उसमें दिखायी देती है। किन्तु आप न तो निराशावादी हैं, और न निरीश्वरवादी—

घटा से निकले बस नभ चन्द,
सुधा से सींची जाय मही।

आप अपनी प्रेम पीड़ा में आकर्षण मानते हैं जो कि आपके प्रियतम को आपके पास खींच लायेगी—

'इस शिथिल आह से खिंच कर तुम आओगे-आओगे।

इस बड़ी व्यथा को मेरी रो-रो कर अपनाओगे ॥'

आपकी स्फुट कविताएँ 'आँसू' 'झरना' और 'लहर' नाम की तीन पुस्तकों में निकली हैं। तीनों पुस्तकों के शीर्षक जल (वरुण) से सम्बन्ध रखते हैं जो कि करुण रस का देवता है। (आपकी ब्रजभाषा की कविताएँ 'कानन कुसुम' में संग्रहीत हैं) 'प्रेम पथिक' आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में से है। वह थोड़े बहुत विवाद के साथ अतुकान्त (Blank verse) का पहला प्रयोग है।

आँसू को प्रसादजी ने मस्तक की 'घनीभूत पीड़ा' कहा है—'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई, दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई।' इसमें पीड़ा को बादल का रूप दिया गया है। घनीभूत के श्लेष द्वारा पीड़ा की अतिशयता के साथ रूपक खड़ा कर दिया गया है। वह बादल की भाँति व्याप्त हो जाती है। आँखों और प्रकृति में भी आँसुओं को देख कर प्रसादजी ने मनुष्य और प्रकृति का तथा प्रेमास्पद और परमात्मा का साम्य उपस्थित किया है।

प्रसादजी ने आँसुओं की वर्षा से मनुष्य के शुष्क जीवन को सिक्त किया है और इस प्रकार उन्होंने एक नये आशामय प्रभात की झलक दिखायी है:—

सब का निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में

वर्षा-वारि-विन्दु की भाँति 'आँसू' काव्य का उदय भी एक अन्तर्ज्वाला में होता है और उसके परिणाम में शीतल-रस-सीकर दिखायी देते हैं। यद्यपि आँसू का अन्त विश्व की मङ्गल कामना में होता है तथापि उसकी करुणा वैयक्तिक है। आँसू के आलम्बन के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कोई उसे लौकिक मानते हैं और कोई उसे अलौकिक कहते हैं। एक महाशय का कहना है कि वह कोई व्यक्ति नहीं है वरन् उसकी वासना का प्रतीक है। वास्तव में प्रारम्भ में तो वह कोई व्यक्ति ही था (थी एक लकीर हृदय में

ओं अलग रही लाखों में) किन्तु समय पाकर वही अलौकिक और दिव्य रूप धारण कर लेता है। आँसू का काव्य मनुष्य को अहङ्कार और महत्व से ऊँचा उठा कर मनुष्य को उस भाव-भूमि में ले जाता है जहाँ सुख दुख का मेल हो जाता है।

हो उदासीन दोनों से दुख सुख से मेल कराये,
ममता की हानि उठा कर दो रूठे हुए मनायें।

इन मुक्तक-काव्य संग्रहों के अतिरिक्त आपने 'कामायनी' नाम का एक कथा-काव्य भी लिखा है। 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा (कामायनी) की कहानी है। यह एक प्रकार की समासोक्ति है। इसमें कथा के साथ रूपक भी चलता है। रूपक को मुख्यता देने के कारण मनु का चरित्र कुछ गिर गया है। मनु में मन की चञ्चलता है। वैसे तो यह युग पुरुष प्राधान्य का नहीं है, नारी को मुख्यता देना युग की भावना के अनुकूल है फिर भी भारतीय सभ्यता के प्रवर्तक का चञ्चल मन और दुर्बल होना कुछ अखरता है। इसमें अनेक सूक्तियाँ और शब्द चित्र आये हैं। देखिये चिन्ता ऐसी अमूर्त वस्तु का कैसा सुन्दर चित्र है। जहाँ चित्रकार की तूलिका असमर्थ रहती है, वहाँ कवि की लेखनी अपना चमत्कार दिखला देती है:—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प-सी मतवाली?
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी-सी दौड़ धूप, ओ,
जल-माया की चल-रेखा।

कामायनी में देवताओं के विलास का दुष्परिणाम दिखाया है।

रत्न सौध के वातायन, जिनमें
आता मधु-मदिर समीर;

टकराती होगी अब उनमें,
तिमिंगलों की भीड़ अधीर ।

इस काव्य में बुद्धिवाद और हृदयवाद का समन्वय किया गया है। प्रसादजी स्वयं लिखते हैं—"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।" मानव को इड़ा के साथ रहने का आदेश देते हुए कामायनी कहती है:—

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय,"

जो लोग कहते हैं कि प्रसादजी ने श्रद्धा को ऊँचा उठा कर बुद्धिवाद के विरुद्ध हृदयवाद का पक्ष लिया है उसमें इतना ही सत्य है कि मनु को श्रद्धा द्वारा अंतिम रहस्य के दर्शन होते हैं; यह बात किसी अंश में सत्य भी है क्योंकि तत्व दर्शन में जहाँ बुद्धि पीछे रह जाती है वहाँ श्रद्धा और प्रातिभ-ज्ञान (Intuition) द्वारा रहस्य का उद्घाटन हो जाता है किन्तु प्रसाद जी ने तर्क और बुद्धि की उपेक्षा नहीं की है। वे समन्वयवादी थे। उन्होंने इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय में शिव के दर्शन कराये हैं।

स्वप्न स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे,

प्रसादजी की भाषा संस्कृत गर्भित है और इस कारण उनकी भाषा का माधुर्य बढ़ा ही है घटा नहीं है, जैसा कि कहीं-कहीं संस्कृत पदावली की योजना में हो जाता है। उसमें अधिक दुरूहता भी नहीं आने पायी है। आपकी गद्य-भाषा प्रौढ़ अवश्य है किन्तु उसमें कहीं-कहीं दुरूहता आ जाती है। आपका शब्द-चयन बड़ा सुन्दर है। आपके काव्य में पुराने और नये

(विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण आदि) दोनों ही ढङ्ग की अलङ्कार-योजना हुई है और आपकी उपमाओं में सुखद नवीनता रहती है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (जन्म सं० १६५५)

आप बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के हैं और अपनी प्रकृति के अनुकूल ही कविता-कामिनी को स्वच्छन्दता देकर आपने उसका स्वाभाविक संगीतमय सौन्दर्य उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। आपकी स्वच्छन्द छन्दमय कविताएँ कुछ तुकान्त हैं और कुछ अतुकान्त। आप दार्शनिक भी हैं और कवि भी। आप में बुद्धिवाद और हृदयवाद दोनों का ही सुखद सम्मेलन है। 'जागरण' 'मैं और तुम' 'कण' आदि अनेक रचनाएँ दार्शनिक चिन्तनों से प्रेरित हैं। आप ब्रह्मवाद से प्रभावित अवश्य हैं-किन्तु ब्रह्मलीन होकर अपने व्यक्तित्व को खो देने के पक्ष में नहीं हैं, भक्तों की भाँति आप ईश्वर के साथ चन्द्र-चकोर का सा ही सम्बन्ध रखना चाहते हैं। आपकी लिखी हुई 'पंचवटी' नाम की कविता में लक्ष्मणजी कहते हैं—

मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बन कर रहूँ—
तो अधिक आनन्द है
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध
पीता रहूँ सुधा इन्दु-सिन्धु से बरसाती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा।
इसमें सन्देह नहीं,
आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

आपके हृदय में करुणा और सहानुभूति का स्रोत बहता हुआ दिखायी पड़ता है। विधवा का आपने बड़ा ही पवित्र और करुणाजनक चित्र खींचा है।

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शांत, भाव में लीन,

वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

ऐसा ही चित्र आपने एक भिखारी का खींचा है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

निराला जी शब्द-चित्र अङ्कित करने में बहुत निपुण हैं। उन्होंने प्रकृति ही के चित्र नहीं खींचे हैं वरन् अपने पात्रों के भी बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। 'पंचवटी प्रसंग' में आपने लक्ष्मण जी का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। वे सेवा की मूर्ति हैं और सेवा के सिवा और कुछ नहीं जानते—

जीवन का एक ही अवलम्ब है सेवा,
है माता का आदेश यही,
माँ की प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन-दल
इनके सिवा कुछ भी नहीं जानता—

'जुही की कली' में प्रकृति का सौन्दर्य वर्णन मानवीकरण के रूप में किया है। वायु को कली का नायक बनाया है। 'सन्ध्या-सुन्दरी' में संध्या की निस्तब्धता का बड़ा सुन्दर वर्णन है। बिलकुल चित्र-सा खिंच जाता है। आपकी 'यमुना' नाम की कविता में अतीत की बड़ी सजीव स्मृति है। वास्तव में आपकी यमुना 'पथिक-प्रिया-सी जगा रही है उस अतीत के नीरव गान।' उद्बोधन के रूप में लिखी हुई 'जागो फिर एक बार' नाम की कविता में उनकी ओजपूर्ण वाणी का परिचय मिलता है।

निरालाजी की कविताओं का पहला संग्रह 'परिमल' के नाम से निकला

था। दूसरा संग्रह है 'अनामिका'। इसका महत्व अनामिका (कन अँगुली के पास की अँगुली जिसमें अँगूठी पहनी जाती है) से कम नहीं है। इसमें प्रेम, करुणा और वीरता प्रधान कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं में उनके वैयक्तिक संघर्ष की छाया है। 'सम्राट के प्रति' शीर्षक कविता में सम्राट एडवर्ड अष्टम के अनुपम त्याग की प्रशंसा है। 'राम की शक्ति पूजा' का कथानक तो बहुत छोटा सा है किन्तु भाषा बड़ी ओजपूर्ण है। उसकी संस्कृति-गर्भित शब्दावली में निर्झर के वेग से बढ़ता हुआ उत्साह दिखायी देता है। इसके मूल में भी तुलसीदास जी की सी वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में ऐक्य स्थापित करने की भावना है। शक्ति पूजा की भाषा का नमूना देखिए—

एकत्र वक्ष पर बढ़ा वाष्प को उड़ा अतुल
शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल-राशि राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़
तोड़ता बन्ध-प्रतिबन्ध धरा, स्फीत-वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल बढ़ता समक्ष,
शत-वायु वेग-बल, डूबा अतल में देश भाव
जलराशि विपुल मथ मिला अनल में महाराव
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश,
पहुँचा एकादशरुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास

कुछ दिन हुए आपके स्फुट गीतों का संग्रह 'गीतिका' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें साहित्य और सङ्गीत दोनों को मिलाने का उद्योग किया गया है। आपके ही शब्दों में इन गीतों की विशेषता इस प्रकार है—

"जो साङ्गीत कोमल मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है उसके साफल्य की मैं ने कोशिश की है। ताल प्रायःसभी प्रचलित हैं। प्राचीन ढङ्ग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रङ्ग पैदा करेंगी।"

इन गीतों में विषय का वैविध्य काफी है। प्रातः श्री तथा यामिनी की शोभा के वर्णन के अतिरिक्त कुछ गीतों में जिज्ञासा के भाव हैं। कुछ में

भक्तिपूर्ण उद्‌गार हैं और कुछ में देशभक्ति है। देखिए नीचे के गीत में आशावाद की कैसी सुन्दर झाँकी मिलती है—

रुखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
हार गले पहना फूलों का
ऋतुपति सकल सुकृति-कूलों का
स्नेह सरस भर देगा उर-सर,
स्मर-हर को वरेगी। वसन वासन्ती लेगी।
मधुव्रत में रत वधू मधुर फल,
देगी जग को स्वाद-तोष दल,
गरलामृत शिव आशुतोष-बल,
विश्व सकल नेगी, वसन वासन्ती लेगी।

निरालाजी आर्यसंस्कृति के बड़े भक्त हैं। तुलसीदासजी के प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप 'तुलसीदासजी' नाम के सुन्दर काव्य ग्रन्थ के आरम्भ में अपने आर्यजाति के पददलित होने पर बड़ा क्षोभ प्रकट किया है। इसमें तुलसीदास के प्रचलित जीवन वृत्त को एक मनोवैज्ञानिक रूप दिया गया है। आपकी कुकुरमुत्ता नाम की कविता में प्रगतिवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। कुकुरमुत्त दलितों का प्रतीक है।

निरालाजी की भाषा संस्कृत-गर्भित है, किन्तु उसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का नितान्त बहिष्कार नहीं है। इनके काव्य में ओज की मात्रा अधिक है और कुछ लोगों का ख्याल है कि इनकी भाषा इनके गीतों के लिए भारी पड़ जाती है। अर्थात् उनका संगीत उनके संस्कृत-गर्भित ओजपूर्ण शब्दों को वहन करने में असमर्थ रहता है। यह बात कहीं-कहीं ही है, सर्वत्र नहीं। आपका अलङ्कार-विधान बड़ा स्वाभाविक है। आपने प्राचीन उपमानों का भी बड़े सुन्दर ढङ्ग से प्रयोग किया है और आपकी कविताओं में यत्र-तत्र 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी' आदि बड़े सुन्दर उपमान पाये जाते हैं जो पीटी हुई लकीर से बड़ी दूर हैं और एकदम पवित्रता का चित्र सामने ला देते हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त (जन्म सं० १९५७)

श्री निरालाजी के शब्दों में पन्तजी हिन्दी के सुकुमार कवि हैं। पन्तजी ने खड़ी बोली में एक नये सौन्दर्य की सृष्टि की है । आप बड़े सुन्दर और सरल स्वभाव के हैं। आपका व्यक्तित्व कवित्वपूर्ण है।

आपके मुख्य काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—ग्रन्थि, वीणा, पल्लव, गुञ्जन, युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या। ग्रन्थि एक प्रेम-प्रधान दुखान्त खण्डकाव्य है। इसमें प्रेम की तीव्र अनुभूति का परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ अतुकान्त कविता का बड़ा अच्छा नमूना है। इसमें अलङ्कार योजना भी बड़ी सुन्दर है। प्राचीन ढङ्ग के अलङ्कारों का सुन्दर रूप से प्रयोग हुआ है—

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे, पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।

कुछ उपमाएँ बड़ी अनूठी और सुन्दर हैं। अलक को सुछवि काव्य की पाद-रेखा बतलाया है, देखिए—

बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित-सी शशि के बदन के बीच में
अचल, रेखाङ्कित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में

'वीणा' और 'पल्लव' में हम प्राकृतिक सौन्दर्य के शब्द-चित्र देखते हैं और कुछ रोना और कुछ गाना सुनते हैं। कहीं-कहीं प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद की भी झलक मिल जाती है, जैसे कि 'परिवर्तन' में। 'पल्लव' में कलाकार का रूप अधिक है। प्राकृतिक दृश्यों में एक अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की गई है और कवि का प्रकृति के साथ भाव-सहचार होना प्रतीत होता है। कवि की दृष्टि प्राकृतिक क्षेत्रों में मधु-बालाओं-सी सुकुमार पर्वत और निर्झर जैसे विशाल दृश्यों की ओर भी गयी है। आपने रूप और

शब्द दोनों के ही चित्र खींचे हैं और अपनी कल्पना द्वारा नवीन-नवीन उपमाओं को उपस्थित कर उन चित्रों को बड़ा आकर्षक बना दिया है। देखिए—

गिरि का गौरव गाकर झर झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते झाग-भरे हैं निर्झर!

जरा आपका बीचि-विलास देखिये—

अरी सलिल की लोल हिलोर!
यह कैसा स्वर्गीय हुलास?
सरिता की चञ्चल दृग-कोर!
यह जग को अविदित उल्लास?
आ, मेरे मृदु अङ्ग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर मधु रोर!

* * *

सजल-कल्पना सी साकार
पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन;

* * *

तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिन्ह उर में गतिवान,
हो जाती हो अंतर्धान!
मुग्धा की-सी मृदु-मुसकान
खिलते ही लज्जा से म्लान
स्वर्गिक सुख की सी आभास
अतिशयता में अचिर महान

* * *

जन्म-मरण से कर परिहास
बढ़ असीम की ओर अछोर,
तुम फिर-फिर सुधि की सोच्छ्वास
जो उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला-सी पाकर वातास।

इनमें मूर्त लहरों की इच्छा और सुधि जैसे अमूर्त पदार्थों के साथ कैसी सुन्दर तुलना की गई है। देखिए बादलों का कैसा सुन्दर चित्र है! इसमें चाहे अँग्रेजी कवि शेली के क्लाउड (Cloud) की छाया बतलाई जाय किन्तु इसके चित्र भारतीय संस्कृति के अनुकूल हैं। इसमें थोड़ा ब्रज-भाषा का भी मिश्रण है।

धूम-धुँआरे, काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर-बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर,

आपने वस्तुओं के रङ्गों का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण किया है। देखिए आम के बौर और उसके रसिक भौंरों का वर्णन—

रूपहले, सुनहले, आम्र-बौर,
नीले, पीले, औ' ताम्र, भौंर,

पन्तजी ने मानव सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है—

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान-नयन,
सहज था सजा सजीला तन।

इसमें पुरानी रूढ़ि के अनुसार नेत्रों को कानों तक पहुँचने वाला बतलाया गया है।

पन्तजी में प्रेम-पूर्ण विरह-जन्य करुणा के अतिरिक्त, जिसका कि 'ग्रन्थि' में दर्शन पाते हैं, वर्तमान युग के दुःखवाद की भी मात्रा है। भवभूति के

'एकोरसः करुणएव' के साथ स्वरैक्य करते हुए पन्तजी ने भी दुःख को ही कविता का मूल माना है। आपकी ये पंक्तियाँ भी बहुत प्रख्यात हैं—

वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

आप प्रकृति में भी दुख की व्याप्ति देखते हैं—

गगन के भी उर में है घाव,
देखती तारायें भी राह,
बंधा विद्युत छवि में जल वाह,
चन्द्र की चितवन में भी चाह,
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठण्डी आह!

किन्तु सभी जगह उनको प्रकृति रोती हुई नहीं दिखलाई पड़ती है। वे कलिकाओं और मधुप कुमारियों में सौन्दर्य और सङ्गीत भरा हुआ देखते हैं, जिसके रसास्वादन में कवि का हृदय भी सङ्गीतमय हो जाता है। पन्तजी का कवि-हृदय प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है। उनके 'परिवर्तन' में हम प्रकृति को विश्वात्मा से ओत-प्रोत पाते हैं और उसमें प्रकृति का उग्र और विध्वंसक रूप भी दिखाई देता है। देखिए—

अहे निष्ठुर परिवर्तन।
विश्व का करुण विवर्तन।
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन।
अहे वासुकि सहस्र फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत-फूत्कार भयङ्कर।
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।

पन्तजी रहस्यवादी कवि हैं। उनमें प्रकृति का रहस्यवाद विशेषकर

'परिवर्तन' जैसी कविताओं में अधिक दिखलायी पड़ता है।

यद्यपि पन्त जी में कवित्व और सौन्दर्य-भावना अधिक है तथापि उनकी कविता विश्व चिन्तन और दार्शनिक विचारों से खाली नहीं है। यह दार्शनिकता 'गुञ्जन' और 'युगान्त' में बढ़ गयी है। इन पुस्तकों में कला और सौन्दर्य का उतना प्राधान्य नहीं है जितना कि 'पल्लव' में। अपूर्णता के कारण 'गुञ्जन' का कवि आरम्भ में कुछ उन्मन सा दिखायी देता है:—

बन-बन उपवन
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन

* * * *

लगता अपूर्ण मानव-जीवन
मैं इच्छा से उन्मम-उन्मन !

यह अन्यमनस्कता पन्तजी को दार्शनिकता की ओर ले जाती है किन्तु यह दार्शनिकता कवि की दार्शनिकता है। पन्तजी ने मानव जीवन की अपूर्णता को कल्पना के माधुर्य से भी पूर्ण किया है और 'युगवाणी' में जीवन के अभावों की ओर ध्यान दिलाकर भी।

'गुंजन' का कवि संसार के 'गुंजन' में अपना राग गुंजाता हुआ मालूम होता है। उसमें सुख दुःख दोनों को ही स्वीकार किया गया है। दोनों से ही मनुष्य ऊब जाता है। किन्तु दोनों ही इस जीवन में अपना स्थान रखते हैं। 'गुंजन' में कवि का जीवन से वैराग्य नहीं है। वह जीवन में सौन्दर्य देखता है। जीवन के उल्लास में वह मिलना चाहता है। जीवन नाश करने के लिये वह भयङ्कर प्रलयङ्कर का आह्वान नहीं करता है। सुख दुःख का पलड़ा बराबर करने वाली 'गुंजन' की यह कविता बहुत प्रख्यात हो गई है। इसका सभी उल्लेख करते हैं और है भी यह उल्लेख योग्य—

सुख दुःख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,

फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से,
मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ' सुख दुख से

ऊपर की पंक्तियों में शशि और घन सुख और दुख के प्रतीक हैं। नीचे की पंक्तियों में आशावाद स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हो रहा है—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।
काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली।
इस में ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।
× +
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन।

पन्तजी सुख-दुख के ऊपर जीवन को ही प्राधान्य देते हैं—

अस्थिर है जग का सुख-दुख,
जीवन ही नित्य चिरन्तन!
सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन!
+ +
मेरे क्षण-क्षण के लघु कण
जीवन लय से हों मधुमय

पन्तजी की फिलासफ़ी के बीज गुञ्जन में मौजूद हैं। उनकी मानव-पूजा का आरम्भ इसी में होता है, देखिए—

तुम मेरे मन के मानव
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन
प्राणों के चिर पहिचाने,

इसी में विश्व वेदना में तड़पने और बन्धन को मुक्ति समझने का सन्देश है—

विश्व-वेदना में तप प्रति पल,
जग जीवन की ज्वाला में जल।

पन्तजी की प्रतिभा विकासशील है। पहले वे प्रकृति के सौन्दर्य में जीवन की विषमताओं को भूल जाना चाहते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रतिभा जीवन के उल्लास-दर्शन की ओर झुकी। वे तितली और भौरों की रङ्ग-बिरंगी दुनिया से बाहर निकल कठोर जीवन की धूप-छाह का चित्रण करने लगे और मानवोपासना की ओर अग्रसर हुए। यह मानव उपासना व्यक्तिगत न होकर मानव मात्र की हो गयी है। उस में इस युग की मानव-गौरव सम्बन्धी भावना काम करने लगी है। उनकी मानव शीर्षक कविता देखिए—

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर,
मानव तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सब की तिल-सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम!

युग वाणी में यह सौन्दर्य भावना और भी व्यापक हो जाती है—

इस धरती के रोम रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इस के रज को छू आकाश,
बन मधुर विनम्र निखरता।

पीले पत्ते टूटी टहनी,
छिलके, कङ्कड़, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर ।

युगवाणी साम्यवाद से प्रभावित है किन्तु उसमें भोजन पानी की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ आध्यात्मिकता और आन्तरिक साम्य का स्वर प्रमुख है—

बाह्य नहीं आन्तरिक साम्य,
जीवन में मानव को प्रकाम्य

युगवाणी में नारी स्वातन्त्र्य का भी सन्देश है। जहाँ पुरुष पुरुष में साम्य है वहाँ नारी को पुरुष के अधीन भी रखना अन्याय है—

मुक्त करो नारी को मानव ! चिर बन्दिनि नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से, जननि सखी प्यारी को।

ग्राम्या में पन्तजी ने गाँवों का चित्रण किया है। वहाँ के लोगों के प्रति उनका उपासक का भाव नहीं है वरन् एक सहृदय द्रष्टा का है। ग्रामीण लोगों की वर्तमान स्थिति को देखकर उनको 'मिट्टी का पुतला' कहा है। ग्रामों की दयनीय दशा का उन्होंने बड़ा करुणाजनक चित्रण किया है। देखिए—

झाड़ फूँस के विवर-यही क्या जीवन शिल्पी के घर,
कीड़ों-से रेंगते कौन ये ? बुद्धिप्राण नारी नर,
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ जग में,
गृह गृह में है कलह,खेत में कलह,कलह है मग में !

फिर भी पन्तजी ने गाँवों में देश की संस्कृति के बीज छिपे हुए माने हैं—

मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों ही में अन्तर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ है अविकृत ।

यद्यपि पन्तजी की गांवों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति है और कहीं-कहीं ग्रामीण पात्रों में कुछ गहरे रंग भर दिये हैं और कहीं-कहीं उनके प्रति तिरस्कार

भावना भी है—'ये जैसे कठपुतले निर्मित', फिर भी उन्होंने इस पुस्तक में जीवन की बहती हुई धारा का बड़ा सुन्दर चलचित्र दिया है। इस सम्बन्ध में उनके कहारों और धोबियों के नृत्य के गतिमय शब्दमय चित्र दर्शनीय हैं। इसमें समाज पर, विशेष कर नगर की स्त्रियों पर सुन्दर व्यंग है। इतना सब होते हुए भी पंतजी ने ग्रामीण लोगों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति प्रदर्शन करने के सम्बन्ध में जो सफाई दी है वह अधिक सन्तोषजनक नहीं है। उनका कहना है—'मैंने ग्राम-जनता को रक्त मांस के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है। रूढ़ियों के शिकार होते हुए भी वे बीमार आदमियों की भाँति हमारी भावुकतापूर्ण सहानुभूति के पात्र हैं।'

आजकल के मानवी सौन्दर्य के चित्रण में रीतिकाल के चित्रण से भेद है। अब कुसुम की सी कोमलता का मान नहीं है। अब पुष्ट मांसल सजग गतिप्राण सौन्दर्य के गीत गाये जाते हैं। उसमें भी आन्तरिक सरलता देखी जाती है। पन्तजी के ग्रन्थों में ऐसे सौन्दर्य का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि युगान्त में पिछले युग के अन्त का संकेत है। युगवाणी में नये युग का सन्देश बौद्धिक भाषा में सुनाया गया है। और ग्राम्या में साम्यवाद का हृदय पक्ष देखते हैं।

युगान्त में कुछ गाम्भीर्य बढ़ जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि क्रीड़ा, कौतूहल, मोद, मधुरिमा, हास्य-लीला, स्नेह, पुलक, सुख, उल्लास के अतिरिक्त सेवा-भाव द्वारा जीवन में सार्थकता लाना चाहता है, देखिए—

जग-जीवन में जो चिर महान
सौन्दर्य पूर्ण औ' सत्य-प्राण
मैं उसका प्रेमी बनूँ, नाथ!
जिसमें मानव-हित हो समान।
जिससे जीवन में मिले शक्ति,

छूटे भय, संशय, अन्ध भक्ति;
मैं वह प्रकाश बन सकूँ नाथ!
मिल जावे जिसमें अखिल व्यक्ति

पन्तजी ने प्रायः मुक्तक काव्य लिखा है, किन्तु उसमें भावों की झड़ीसी बँध जाती है। इस सम्बन्ध में आपकी 'छाया', 'वीचिविलास' और 'नक्षत्र' नाम की कविताएँ पढ़ने योग्य हैं। उनकी मालोपमाएँ बहुत ही अनूठी और सुन्दर हैं।

पन्तजी की भाषा में माधुर्य गुण की प्रधानता है। इन्होंने भी अपनी कविता में साहित्य और सङ्गीत का प्रयोग किया है और इनकी माधुर्यपूर्ण पदावली ने सङ्गीत का पूरा-पूरा साथ दिया है। पन्तजी लिखते हैं कि 'पल्लव की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था और 'गुञ्जन' में 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सका।' इस प्रकार सरगम के दो सुर तो हो ही गये हैं। खड़ी बोली के लिए जो लाञ्छन था कि उसमें माधुर्य और कोमलता का अभाव है उसको दूर करने में ये बहुत अंश तक सफल हुए हैं। बुद्धितत्व के प्राधान्य के कारण युगवाणी में गीतमय गद्य है।

निरालाजी के काव्य में पौरुष और ओज है। पन्तजी के काव्य में माधुर्य और सौन्दर्य है। रङ्गों के वर्णन में दोनों ने ही अच्छी पटुता दिखलायी है। निराला श्याम रङ्ग की ओर ज्यादा झुके हैं और पन्त श्वेत और उज्ज्वल रङ्ग की ओर अधिक। निरालाजी ने मैथलीशरण के विपरीत सूर्पणखा को राम की ओर आकर्षित किया है। इसमें भी उनका श्याम की ओर पक्षपात है। पन्त और निराला दोनों ने ही खड़ी बोली की गौरव-वृद्धि की है।

श्री महादेवी वर्मा (जन्म सं० १९६४)

आजकल के युग में यद्यपि मीरा और ध्रुव की सी प्रेम-साधना और भक्ति-भावना प्रायः असम्भव-सी है (आजकल का दार्शनिक चिन्तन और जटिल जीवन भावना में बाधक होता है) तथापि आजकल के कवियों ने भी

वियोग की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उनमें महादेवीजी का स्थान बहुत ऊँचा है। आपकी कविता में दुःख की तीव्र अनुभूति है। आप अपने मानस के सूनेपन को सारे संसार में बिखरा पाती हैं। आपके रहस्यवाद की यह विशेषता है कि आप मनुष्य की सीमाबद्धता से संकुचित नहीं होतीं, उसकी लघुता को ही उसका गौरव समझती हैं। आप ससीम में भी असीम को देखती हैं और एक कण में ही असीमता के दर्शन कर लेती हैं—

सच है कण का पार न पाया, बन बिगड़े असंख्य संसार।
पर न समझना देव हमारी लघुता है जीवन की हार।

*   *   *   *   *

चिर तृप्ति वासनाओं का कर जाती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति बन जाती॥

महादेवीजी विश्व में कोई ऐसा असीम नहीं पातीं जिसका कि पता ससीम में न मिले। ससीम की भी उतनी ही महत्ता है जितनी कि असीम की। ससीम का गौरव वर्तमान युग की विशेषता है:—

विश्व में वह कौन सीमा हीन है,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान् हो?

महादेवीजी ने जहाँ कण-कण में असीम को देखा है वहाँ प्रकृति के विराट रूप में भी उसके दर्शन करने का प्रयत्न किया है—

आलोक तिमिर सित असित चीर
सागर-गर्जन रुन-झुन मँजीर,

*   *   *   *   *

रवि-शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त-जटित तारक अमोल,

चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष
हिमकर बन झरते स्वेदनिकर
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर ।

महादेवीजी पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है । वे स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं चाहती । वे अमरता को जीवन का ह्रास समझती हैं—

अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास ।

महादेवीजी ईश्वर और जीव का सम्बन्ध एक ओर रश्मि और प्रकाश सा अभिन्न और दूसरी ओर घन और तड़ित-सा भिन्न मानती हैं—

मैं तुम से हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश ।
मैं तुम से हूँ भिन्न,-भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास ॥

एकात्मवाद से प्रभावित महादेवीजी का एक गीत और देखिए:—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागनी भी हूँ !
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ ।
तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी ।
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर- विस्मत भी,
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ !

आपने दुख को हेय नहीं माना है । दुःख मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है । मनुष्य की विरह-वेदना का आरम्भ जन्म से ही होता है—'जन्म ही हुआ वियोग, तुम्हारा ही तो उच्छ्वास ।' वे स्वयं जलने को ही जीवन का लक्ष्य मानती हैं । 'प्राणों का दीप जलाकर, करती रहती दीवाली ।' वे अपने मरने के अधिकार के आगे अमरत्व को भी नहीं चाहती हैं, देखिए—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार

अपना व्यक्तित्व मिटाने को ही आप परम लक्ष्य समझती हैं। अपने को 'नीर भरी दुःख की बदली' कह कर उसका अन्तिम ध्येय मिटना ही बतलाती हैं, देखिए—

'उमड़ी कल थी मिट आज चली।'

अपना अस्तित्व स्थिर रख कर पीड़ा का फल आप सुख में नहीं चाहतीं। आप कहती हैं 'काटूँ वियोग-पल रोते संयोग समय छिप जाऊँ' खोज और प्यास को ही आप महत्ता देती हैं।

महादेवीजी के दुःख में भौतिकता कम है और वह नैराश्य जनित भी नहीं है। वे लिखती हैं कि उनको जीवन में सुख बहुत मिला है, दुःख शायद उसकी प्रतिक्रिया हो।

'नीहार' और 'रश्मि' के बाद आपकी 'नीरजा' और 'सांध्य-गीत' नाम की दो और पुस्तकें निकली हैं। दोनों में ही साहित्य और संगीत का सुन्दर समन्वय है। 'नीहार' में बालकों की सी विस्मयपूर्ण अनुभूति है। उसमें कुछ रूप रेखा-हीनता है। 'रश्मि' में अनुभूति के साथ चिन्तन और प्रकाश है। 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' में भावना के प्राधान्य के साथ लक्ष्य की झाँकी भी है। जब साधारण भाषा भावना का वहन नहीं कर सकती है तभी गीत की सृष्टि होती है। आपके गीतों में कैसी तीव्र वेदना है? देखिए—

देव अब वरदान कैसा?
इन्द्रधनु से नित सजी-सी
विद्यु हीरक से जड़ी-सी.
मैं भरी बदली रहूँ
चिर मुक्ति का सन्मान कैसा?

युगयुगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी,
ले फिरूँ सुधि दीप-सी, फिर राह में अपनी अँधेरी,
लौटता लघु पल न देखा,
नित नये क्षण-रूप-रेखा,

चिर बटोही मैं मुझे,
चिर-पंगुता का दान कैसा !

क्षितिज के उस पार की वस्तु बनने को महादेवीजी इतनी आकुल सी हो जाती हैं कि वे जीवन को भी भारी समझती हैं। देखिए—'क्यों मेरे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे।' कबीर की भाँति महादेवीजी ने कहीं-कहीं विरोधात्मक वाक्यों द्वारा भी तथ्य-कथन किया है—

तरी को ले जाओ मँझधार, डूब कर हो जाओगे पार

यह पंक्ति बिहारी की 'अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अङ्ग वाली' उक्ति की याद दिलाती है।

श्रीमती महादेवी वर्मा यद्यपि संस्कृत-गर्भित भाषा लिखती हैं तथापि उसमें एक विशेष सरलता और प्रवाह है। भाव भाषा में से स्वयं ही प्रस्फुटित होते मालूम होते हैं। आपके भावों में छायावाद काल की सुकुमारता पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है और भाषा ने भी उसी कोमलता का अनुसरण किया है। आपके विरह में विशेष विदग्धता है जिसके कारण पाठकों का जी नहीं ऊबने पाता। आप विरह की आराधना करते करते विरहमय हो जाती हैं और फिर विरह दुःखमय नहीं रहता—

हो गयी आराध्यमय मैं विरह की आराधना से

'दीपशिखा' आपकी नवीनतम कृति है।

महादेवी वर्मा के अतिरिक्त श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा और श्रीयुत रामकुमार वर्मा का भी आजकल के कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है। ये तीनों कवि 'वर्मा त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा (जन्म सं० १९६०)

वर्माजी की कविताओं का संग्रह 'मधुकण' नाम से निकला है। वे भी आजकल के दुःखवाद के कवियों में से हैं। ये दुःख में ही एक शान्ति और सुख की रेखा देखते हैं—

इस दुख में पाओगी सुख की धुँधली एक निशानी।

आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी ॥

आपकी कविता में एक नैराश्य और अतृप्ति की झलक रहती है। आप न तो थक जाना जानते हैं और न झुक जाना—

लेकर अतृप्त तृष्णा को
आया हूँ मैं दीवाना,
सीखा ही नहीं यहाँ है
थक जाना या झुक जाना

वर्माजी के दुःख में नैराश्य की झलक मिलती है और उनकी वेदना कहीं-कहीं उर्दू-फारसी की कबाब और सीख की शैली धारण कर लेती है। आपकी कविता में ऐसा प्रतीत होता है मानो संसार से आपको यथोचित सहानुभूति नहीं मिली। संसार को आप कृतघ्न कहते हैं—

आह ! कृतघ्न विश्व का झोंका
मुझे बनाता है उद्भ्रान्त

आपकी रचनाओं का एक और संग्रह 'प्रेम-संगीत' नाम से निकला है। आपके प्रेम में पार्थिवता कुछ अधिक है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी प्रेम अपार्थिव हों। वर्माजी प्रेम के मधु में सब कुछ भूल जाना चाहते हैं। इसकी उन्हें परवाह नहीं कि वह क्षणिक है या शाश्वत। वे रो-रोकर हँसना सीख गये हैं, किन्तु उनके रोने में निष्कामता नहीं, उसमें मिलन की चाह है। 'मेरे जीवन में आओ मेरे जीवन की रानी'। इसके विपरीत महादेवीजी प्रियतम की अपेक्षा प्रियतम के विरह को अधिक महत्व देती हैं।

'नूरजहाँ की कब्र पर' नाम की आपकी कविता में कथानक और भावावेश का अच्छा सम्मिश्रण है। 'मानव' आपकी कविताओं का नवीनतम संग्रह है।

वर्माजी देश की परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रगतिवाद की ओर बढ़ रहे हैं। आपने भैंसा गाड़ी का वर्णन करते हुए ग्रामों का जो करुण चित्र खींचा है वह बड़ा हृदयस्पर्शी है। आपकी यह कविता काफी ख्याति पा चुकी है। इसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है।

चरमर चरमर चूँ चरर मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी ।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पांच कोस की दूरी पर ।
भू की छाती पर फोड़ों से,
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर ।
नर पशु बनकर पिस रहे जहां,
नारियां जन रही हैं गुलाम ।
पैदा होना बस मर जाना
बस यह लोगों का एक काम ।

वर्माजी की भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा अधिक है और कहीं- कहीं उसमें अँग्रेजी मुहावरों का (जैसे—नया अध्याय खोलना आदि) ज्यों का त्यों अनुवाद मिलता है ।

श्री रामकुमार वर्मा (जन्म सं० १९६२)

वर्माजी की कई कृतियां निकल चुकी हैं। उनमें 'अंजली', 'अभिशाप' 'रूपराशि', 'चित्ररेखा' प्रधान हैं। 'चित्ररेखा' की भूमिका में वर्माजी ने लिखा है कि 'रूप-राशि' कल्पना-प्रधान ग्रन्थ है और 'चित्ररेखा' अनुभूति-प्रधान । वह अनुभूति करुणा-प्रधान है। आप भी दुःखवाद के कवियों में हैं । आप क्षणिक सुख में भी दुःख छिपा हुआ देखते हैं और प्रातः में संध्या की कालिमा और जीवन में मृत्यु छिपी हुई पाते हैं।

धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप ।

\+ \+ \+

क्या लिखते हो खींच-खींच,
विद्युत की उज्वल रेखा

मैंने तो नभ को केवल
पृथ्वी पर रोते देखा
बादल के तिरछे तन स्मिर
मैंने कभी न पाया
प्रातः में भी दौड़ गयी
संध्या की काली छाया।

आपकी रचनाओं में निराशा है, किन्तु उस निराशा के कारण आप अनीश्वरवाद में नहीं पहुँच जाते। इतना ही नहीं वरन् आप अपने प्रियतम को छिप कर, आते हुए मानते हैं—

रजनी मलीन है, सजे किन्तु
आशाओं के सुन्दर प्रदीप,
विस्तृत सागर के अश्रु पूर्ण
उर में संचित है एक दीप,
स्वाती-शिशु मोती हृदय-रूप
ज्योतित करता है सरस सीप,
इस भाँति न जाने किस पथ से
वे मुझ में आज समाये !!

'हिम-हास' आपकी नवीनतम कृति है जिसमें काश्मीर का वर्णन है। यह उच्चकोटि का गद्य काव्य है।

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' (जन्म सं० १९४९)

आपकी गणना रहस्यवादी कवियों में है। आप यद्यपि सिद्धान्त रूप से सोऽहम् के मानने वाले हैं तथापि अपने भगवान् को द्वैतभाव से प्रियतम के रूप में देखते हैं और सच्चे प्रेमी की भाँति आप उनकी निठुराई एवं निर्दयता से विचलित नहीं होते। कभी-कभी आप भी आलङ्कारिक हाला के प्याले की सुधि कर लेते हैं:—

तेरे अधरामृत-सा प्याला
यह होठों से लगा रहे।
पीने का अनुराग 'वियोगी'
प्रबल रूप से जगा रहे।
इतना ढले कि सारे जग को—
मदिरा का प्याला लेखूँ
अपने में मैं तुम्हें, और
तुम में मैं अपने को देखूँ।

श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' (जन्म सन् १६०४)

आप बड़े भावुक कवियों में से हैं। बड़े दीनभाव से प्रार्थना करते हैं। आपकी विनय बड़ी करुणा से भरी है—

मिटावे मेरी पीड़ा कौन?
पड़ी किसको है क्या परवाह?
तुम्हीं हो एक मिटाओ आज
हृदय रख देता हूँ निज खोल।
दया कर अपना पावन प्रेम
मधुरता-रस में दे दो घोल।

कवि अपने प्रियतम के विरह में अपने को मिटा देना चाहता है। वह अन्तर्ज्वाला को 'अमर शान्ति की जननि' सम्बोधित करते हुए उससे जला देने की प्रार्थना करता है। 'हाँ, खूब जला दे! रह न जाय अस्तित्व, और जब वे आवें चरणों पर दौड़ लिपट जाने वाली, केवल विभूति पावें।'

श्री रामधारी प्रसाद सिंह 'दिनकर'

आप पर राष्ट्रीयता की छाप अधिक है। आपका करुणार्द्र हृदय अमीर और पूँजीपतियों की शोषण नीति से व्यथित हो जाता है। आपकी कल्पना भी कभी-कभी शिव का-सा प्रलयङ्कारी ताण्डव नृत्य करती है। आपने गङ्गा,

हिमालय आदि के सम्बन्ध में प्राकृतिक वर्णन भी किया है, उसमें देश-प्रेम की भावना प्रधान है। आपका हिमालय का वर्णन देखिए:—

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार दिव्य, गौरव विराट !
पौरुष के पुँजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट।
मेरे भारत के दिव्य भाल।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
युग-युग अजेय, निर्बन्ध मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान।
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान ?

दिनकरजी विहार के कवि हैं। आपने मिथिला के विगत वैभव को अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखा है—

मैं पतझड़ की कोयल उदास बिखरे वैभव की रानी हूँ।
म हरी-भरी हिमशैल-तटी की विस्तृत स्वप्न कहानी हूँ॥

जैसे निरालाजी ने यमुना द्वारा अतीत की स्मृति जगाई है वैसे ही दिनकरजी ने गङ्गा वर्णन में प्राचीन गाथाओं का गान किया है। आपकी कविताओं के संग्रह 'रेणुका' और 'हुँकार' हैं।

आपने अपनी 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता में वर्तमान सभ्यता का बड़ा भीषण चित्र खींचा है—

सिर धुन-धुन सभ्यता सुन्दरी रोती है बेबस निज रथ में—
हाय ! दनुज किस ओर मुझे ले खींच रहे शोणित के पथ में।

* * * *

विद्युत की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है।
अरी, हृदय को थाम, महल के लिये झोपड़ी बलि होती है॥
देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।

बनती ही उन पर आती हैं वैभव की ऊँची दीवारें ॥

'कस्मै देवाय' को पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने और भी ख्याति दी है। उनका कहना है कि कृषक ही काव्य का विषय होना चाहिये। श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'रोटी का राग' इसी प्रवृत्ति का फल है।

दिनकरजी देश के आगे कल्पना के स्वर्ग न्यौछावर करने को तैयार हैं।

आज न उड़के नील कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी।
आज चमेली में न चन्द किरणों से चित्र बनाऊँगी ॥

दिनकरजी की जाग्रति की शङ्ख-ध्वनि में आशा का एक सन्देश है—'जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोने वाले'। आपने 'रसवन्ती' में जीवन के कोमल पक्ष का स्पर्श किया है जिसमें नारी के विभिन्न रूपों का चित्रण है किन्तु आपकी अधिकांश कविताओं में विरोध की अन्तर्ज्वाला है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान (जन्म सं० १९६१)

आपकी कविताएँ अधिकतर राष्ट्रीय हैं, यों आपने वात्सल्य रस की भी सुन्दर कविता की है। आपकी 'झाँसी की रानी' नाम की कविता बड़ी लोकप्रिय हुई है। उसमें नारी गौरव की भावना के साथ पूर्णरूप से देश प्रेम की झलक मिलती है। रानी लक्ष्मीबाई की समाधि का वर्णन देखिए:—

बढ़ जाता है मान वीर का,
रण में बलि होने से।
मूल्यवती होती सोने की,
भस्म यथा सोने से ॥
रानी से भी अधिक हमें अब,
यह समाधि है प्यारी।
यहाँ निहित है स्वतन्त्रता की,
आशा की चिनगारी ॥

आपकी भाषा सरल स्वाभाविक है। देखिए, बालिका का कैसा सुन्दर परिचय है—

दीप-शिखा है अन्धकार की, घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल भृङ्ग की, है पतझड़ की हरियाली॥
कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृ-मोद को, अपने ही मन में लेखो॥

आपकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' नाम से प्रकाशित हुआ है।

श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

राष्ट्रीयता के आदर्श में मुसलमानों का भी स्थान है। उनकी सभ्यता में भी बहुत-कुछ काव्य की सामग्री रही है। जहाँगीर और नूरजहाँ तथा शाहजहाँ और मुमताज-महल की प्रेम कहानियाँ कवि-प्रतिभा के लिए सुन्दर क्रीड़ा क्षेत्र हैं। ताजमहल तो स्वयं ही संसार-व्यापिनी भाषा का प्रस्तराङ्कित काव्य है। गुरुभक्तजी ने नूरजहाँ के ऊपर एक पूरा काव्य लिखा है। आपकी दो विशेषताएँ हैं—प्रकृति वर्णन और मुहावरों का प्रयोग। मुहावरों के प्रयोग में आप पर हरिऔधजी का प्रभाव है। आप ग्रामीण सभ्यता के पूर्ण पक्षपाती हैं। नूरजहाँ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा पुरस्कृत हुई है। आपके मुहावरों के प्रयोग का एक नमूना लीजिए। इसमें पक्षियों पर मुहावरों का व्यवहार हुआ है, देखिए—

अब तक खूब उड़ाये हैं तू ने आनन्द-कबूतर।
हाथों के तोते अब उड़ते, कैसा कतर दिया पर॥
अब मेरी तूती बोलेगी, नया खिलाऊँगी गुल।
वह प्यारा सलीम हो जावेगा मुझ पर ही बुलबुल॥
उल्लू मुझे बनाने आई उड़ती मैं पहचानूं।
निकल जाय मेरे पंजे से कोई तब मैं जानूं॥

शहरी शिष्टचार का वर्णन, देखिए—

नीच वासना कामुकता का हृदय हृदय में डेरा,
केवल स्वार्थ-साधना ही से मानस-मानस प्रेरा।
नहीं हृदय से जिसको नाता रसना की रचनाएँ।

ऐसे शिष्टाचार वाक्यपटुता की शुचि प्रतिमाएँ ॥

'नूरजहाँ' के सोलहवें सर्ग में ग्रामीण दृश्यों का सुन्दर वर्णन आया है। आजकल भी प्रबन्धात्मक काव्य लिखने की प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत मात्रा में है, 'नूरजहाँ' उसी का फल है।

श्री नरेन्द्र एम० ए०

आजकल के नवयुवक कवियों में आपका ऊँचा स्थान है। 'शूलफूल' और 'कर्णफूल' आपके प्रारम्भिक काव्य-संग्रह हैं। 'प्रभात फेरी' और 'प्रवासी के गीत' आपके पीछे के संग्रह हैं। आपने शृंगार और वीर-रस दोनों को ही अपनाया है। आपकी वीरता सामाजिक बन्धनों और रूढ़ियों के गढ़ ढाने के सम्बन्ध में अधिक है। आपकी कविता में निराशावाद है किन्तु प्रगतिवादी होने के नाते आप उसे चिरस्थायी नहीं मानते। आप नत-शिर बन्दी को उठा कर उसकी निर्जीव श्वासों में नवजीवन फूंकने का सन्देश सुनाते हैं। आपकी हाल की कविताओं में 'ज्येष्ठ के मध्याह्न' की अधिक ख्याति हुई है। देखिए:—

मध्याह्न-काल, ज्यों अहि विशाल,
केन्द्र में सूर्य—
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल
कर गरल-पान सब विश्व शान्त
तृण-तरु न कहीं भय से हिलते—
जीवनी शक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पड़ी क्लान्त !

नरेन्द्रजी का नवीन काव्य संग्रह 'पलाशवन' के नाम से निकला है। उसमें प्रेम-पीड़ा के साथ प्रकृति का चित्रण भी है किन्तु उसमें उनके हृदय की ज्वाला की प्रतिच्छाया अधिक दिखाई पड़ती है। पलाश की लाली क्रान्ति का प्रतीक है।

लो, डाल डाल से उठी लपट ! लो, 'डाल डाल फूले पलाश !'
यह है बसन्त की आग लगादे आग जिसे छूले पलाश ।

नरेन्द्रजी ने पहले प्रकृति का सौम्य रूप देखा था। अब उनका झुकाव उसके उग्र रूप की ओर है। सौम्य रूप का उदाहरण लीजिए—

मधुमय स्वर से सिंचित मधुवन,
सुरभित नीम, नवल दल पीपल,

श्री अंचल—आपका पूरा नाम है श्री रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल'। 'मधूलिका,' 'अपराजिता' 'किरण वेला' और 'करील' आपके चार काव्य-संग्रह हैं। आपने वासनामय प्रेम के ऊपर आध्यात्मिक आवरण डालने का प्रयत्न नहीं किया है। अंचलजी ने तृष्णा को जीवन का एक सत्य मान कर कहा है।

चिर तृष्णा में प्यासे रहना
मानवता का संदेश यही

अंचलजी के वासना और तृष्णा सम्बन्धी अतृप्ति के गान असन्तोष और विद्रोह भावना में परिणत हो जाते हैं। अंचलजी अब प्रगतिवाद की ओर आये हैं। वे शोषित-पीड़ित मानवता का पक्ष लेकर क्रान्ति की ज्वाला धधकाना चाहते हैं। यद्यपि मैं महामरण को त्योहार मनाने का पक्षपाती नहीं हूँ तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आपने पीड़ित मानवता के जो चित्र खींचे हैं वे बड़े करुणाजनक हैं। देखिए—

और कई बच्चों की मां आ रही उधर से अन्न बटोरे
आंचल में कुछ लिये चबाती कुछ, बिखरे धोती के छोरे
वह देखती पेड़ तले यह खड़ी मानवी कृश जर्जर
देती बांध फटे दामन में थोड़े से दाने अकुलाकर
किन्तु खड़ी रहती वह जड़ पत्थर निज निरमोही की प्यासी
घर के बिकते तो बीतेंगी पेड़ तले फिर रातें आसी।

अंचलजी ने करील को शोषित का प्रतीक माना है क्योंकि उसमें बसन्त में भी पत्र नहीं आते और उसे काँटों का ही भार सहना पड़ता है। संस्कृत के कवि ने तो करील की पत्र-हीनता के लिए बसन्त को दोषी नहीं ठहराया था—"पत्रं नैव करील विटपे दोषो बसन्तस्य किम्' किन्तु अंचलजी व्यक्ति की हीन अवस्था के लिए समाज को ही दोषी मानते हैं। अंचलजी की कविता में प्रकृति

प्रेम की अपेक्षा मनुष्य के प्रति प्रेम अधिक है ।

कहीं-कहीं अंचलजी की भाषा में उर्दू का पुट अधिक हो जाता है। जो लोग राष्ट्रीय कविता करते हैं उनके लिए यह आश्चर्य की बात नहीं है।

स्फुट कविगण

आजकल जितनी कविता लिखी जा रही है उसका परिचय देना इस ग्रन्थ की सीमा और लेखक की शक्ति से बाहर है। सभी ने अपनी सूझ-बूझ के अनुसार सरस्वती देवी की अर्चना की है, किन्तु उनमें से कुछ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो नीचे दिये जाते हैं—

श्रीगोकुलचन्द शर्मा—आपने 'तपस्वी तिलक' गांधीगौरव,' 'प्रणवीर प्रताप' आदि पुस्तकें लिखी हैं, जो राष्ट्रीयता से पूर्ण हैं। आप स्फुट कविताएँ भी अच्छी लिखते हैं।

श्री अनूप शर्मा—आपका 'सिद्धान्त' नाम का एक प्रबन्ध काव्य निकला है। यह 'प्रियप्रवास' की भाँति संस्कृत छन्दों में लिखा गया एक स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थ है।

श्री उदयशंकर भट्ट—आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह 'राका' है। आपका लिखा हुआ 'तक्षशिला' नाम का एक प्रबन्ध काव्य भी है जो पंजाब सरकार द्वारा सम्मानित हो चुका है। आपके कई और कविता संग्रह निकल चुके हैं उनमें प्रगतिवाद की ओर आपकी प्रवृत्ति दिखाई देती है।

एक मजदूर का करुणा पूर्ण चित्रण देखिए

मेरी बरसात आँसू है मेरा वसन्त पीला शरीर
गरमी झरनों सा स्वेद स्रोत मेरे साथी दुख दर्द पीर
दिन उनको मुझको रात मिली श्रम मुझे उन्हें आराम मिला
बलि देने को प्राण मिले हन्टर को सूखा चाम मिला

श्री गोविन्द बल्लभ पन्त—आपके नाटकीय गीत बहुत सुन्दर होते हैं।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'—आपकी रचनाएँ 'विपञ्ची' में संग्रहीत हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र—'अन्तर्जगत' और 'तपोवन' के लेखक हैं।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी—'आँखों में' 'जादूगरनी' 'अनन्त के पथ पर' 'स्वर्ण विहान,' 'अग्नि गान' आपकी रचनायें हैं। अग्निगान में हम असन्तोष की आग उग्ररूप में पाते हैं किन्तु उनकी क्रान्ति अहिंसात्मक ही है। आप हिंसा की ही हिंसा चाहते हैं। आपका आदर्श है—

वन के मृग से सब जन घूमें, हिंसा के हम प्राण निकालें,
विष की जननि सभ्यता के हम, आज गले में फाँसी डालें।

श्री मिलिन्द—आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।

श्री पद्मकान्त मालवीय—'त्रिवेणी' 'प्याला' 'प्रेम-पत्र' 'रुबाइयातपद्म'।

मधु में बौरे आम मञ्जरित,
फैले द्रुम-द्रुम विद्रुम-से दल,

*   *   *   *

पिक-श्यामल मँडराते अलि दल
मुहु-मुहु कुहु-कुहु कुहकी कोयल !

श्री बालकृष्ण राव—आप प्रसिद्ध पत्रकार और नेता स्वर्गीय सर सी० वाई० चिन्तामणि के सुपुत्र हैं। मद्रासी होते हुए भी आपको ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों पर ही अच्छा अधिकार है। 'कौमुदी' और 'आभास' नाम से आपके दो संग्रह निकले हैं।

श्री गोपालसिंह नैपाली—आपने प्रकृति-सम्बन्धी बहुत सुन्दर कविता की है। आपकी 'पीपल', 'हरी घास' आदि कविताएँ बड़ी सुन्दर हैं। आपका 'नवीन' नाम का काव्य-संग्रह हाल ही में निकला है।

श्री सोहनलाल द्विवेदी—आप पहले तो बच्चों के लिए कवित करते थे अब राष्ट्रीय कवि के रूप में अधिक दिखाई देते हैं। आप गांधीवाद से अधिक प्रभावित हैं। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह वासवदत्ता के नाम से निकला है। यद्यपि वासवदत्ता नाम की कविता में ऐतिहासिक भूलें हैं तथापि उसका सांस्कृतिक पक्ष बड़ा सराहनीय है। उसकी भाषा का प्रवाह भी बड़ा ओजमय है। आपके प्रथम संग्रह 'भैरवी' में बड़े सुन्दर अभियान गीत (Marching Songs) हैं। गांधीजी की अहिंसात्मक नीति से

प्रभावित द्विवेदीजी का एक अभियान गीत उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है:—

न हाथ एक शस्त्र हो
न साथ एक अस्त्र हो
न अन्न वीर वस्त्र हो
हटो नहीं, डटो कहीं

बढ़े चलो, बढ़े चलो।

रहे समक्ष हिम शिखर
तुम्हारा प्रण उठे निखर
भले ही जाय तन बिखर
रुको नहीं झुको नहीं
बढ़े चलो, बढ़े चलो।

श्री आरसीप्रसादसिंह—'कलेजे के टुकड़े', 'कपाली' 'आरसी'।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क—'प्रात प्रदीप', 'उर्मियाँ'।

श्री शिवमङ्गलसिंह सुमन—'हिल्लोल', 'जीवन के गान'। इसमें मानव गौरव कुछ बढ़े-चढ़े रूप में दिखाई पड़ता है। देखिए:—

यह हार एक विराम है
जीवन महा संग्राम है
तिल तिल मिटूँगा पर
दया की भीख मागूँगा नहीं

श्री सुमनजी की 'मास्को अब भी दूर है' आदि रूस सम्बन्धी कविताएँ बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं।

श्री जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'—आपकी 'वैकाली' में प्रकृति के कुछ अच्छे चित्र हैं।

हिन्दी काव्य गगन में बहुत से और भी तारे उदय हो रहे हैं, उनमें सर्वश्री चन्द्रप्रकाश (रैन बसेरा), श्री निरंकारदेव 'सेवक' (स्वस्तिका), श्री श्यामविहारी शुक्ल 'तरल' (मानव), श्री कृष्णचन्द्र शर्मा चन्द्र (मरीचिका)

श्री हंसकुमार तिवारी (रिमझिम), श्री नीलकंठ तिवारी (इन्द्रधनुष), श्री भारतभूषण अग्रवाल (छवि के बन्धन), श्री सुधीन्द्र (प्रलय वीणा, जौहर), श्री रामकृष्ण भारती(निर्झर) श्री तेज नारायन काक (मुक्ति की मशाल) आदि का नाम उल्लेखनीय है। हाल में मुक्ति बोध, नेमीचन्द जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गिरजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा और वात्सायनजी की कविताओं का सम्मिलत संग्रह 'तार सप्तक' नाम से निकला है। इसमें विविध प्रकार की कविताओं का प्रयोग है। इसके कुछ उदाहरणों में प्रगतिवाद में छायावाद की कला का मिश्रण दिखाई पड़ता है।

स्फुट कवियित्रियों में सुश्री तोरनदेवी शुक्ल 'लली', तारा पाण्डेय, स्व० पुरुषार्थवती देवी 'आर्य', लीलावती भंवर 'सत्य', विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु', कुमारी राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी', राजकुमारी चौहान, सुमित्राकुमारी सिन्हा, दिनेशनन्दिनी चौरड्या आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। दिनेश नन्दनीजी के 'मौक्तिक माल' नाम के गद्य-काव्य संग्रह पर सेकसरिया पुरस्कार भी मिला है। सुश्री होमवती कहानी के साथ साथ कविता भी अच्छी करती हैं।

हालावाद

हालावाद हिन्दी-साहित्य में फारसी-साहित्य का प्रभाव है। सूफी लोग अपने को शरीयत वालों से भिन्न समझा करते हैं क्योंकि उसके मत से शरीयत वालों के विचार कुछ संकुचित होते हैं। शरीयत वालो के ढोंग और आडम्बर की अपेक्षा वे रिन्दों (मजहब को न मानने वाले फक्कड़ लोगों) की सहृदयता को अधिक महत्व देते हैं और अपने को भी रिन्द कहना पसन्द करते हैं। वे शराब को आध्यात्मिक मस्ती का संकेत मानते हैं।

फारसी के हालावादी साहित्य में उमर खय्याम का नाम बहुत प्रसिद्ध है। फिट्जराल्ड द्वारा किया हुआ उनकी रुबाइयों का अँग्रेजी अनुवाद बहुत लोक-प्रिय हुआ। हिन्दी में भी इसके कई अनुवाद निकले। श्री मैथलीशरण गुप्त ने भी एक अनुवाद किया है। बच्चनजी ने उमरखय्याम की मधुशाला

लिखी, और उसके साथ ही स्वतन्त्ररूप से अपनी 'मधुशाला' भी। बच्चनजी आजकल मधु साहित्य के प्रतिनिधि कवि समझे जाते हैं। इन्होंने 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल-अन्तर' नाम की चार पुस्तकें और लिखी हैं। यद्यपि बच्चनजी ने भी हाला का गुणगान आलंकारिक रूप से किया है तथापि उसमें कहीं-कहीं वास्तविक हाला का स्तुति पाठ सा सुनायी पड़ता है। विषय चाहे जैसा हो, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि बच्चनजी ने इसकी अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढङ्ग से की है।

आपके काव्य में एक विशेष तन्मयता है। इसके कारण वह लोकप्रिय हो गया है। इसके कई अनुकरण निकले हैं, जैसे श्रीकृष्णचन्द्र की 'मदशाला' और श्री रञ्जनजी की 'टीशाला' आदि। पं० हृषिकेश चतुर्वेदी ने भी भारतीय संस्कृत के अनुकूल विजया की प्रशंसा में 'विजया-वाटिका' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

बच्चनजी ने स्वतन्त्र प्रेम की भी बहुत सी कविताएँ लिखी हैं किन्तु वे प्रेम और हाला की मादकता में संसार की वास्तविकता को भुलाना नहीं चाहते हैं। उनके 'एकान्त संगीत' और 'निशा-निमन्त्रण' में संसार के लोहे के चनों की ओर ध्यान गया है—

मधुशाला का राग नहीं अब,
अंगूरों का बाग नहीं अब,
अब लोहे के चने मिलेंगे,
दाँतों को अजमाओ,
आगे हिम्मत करके आओ।

बच्चनजी अब स्वप्नमयी कल्पना और मधुर शब्दावली के भुलावे में नहीं पड़ना चाहते हैं, वे 'एकान्त संगीत' में कहते हैं—

सत्य हुआ मुखरित जीवन में
मत सपनों का गीत सुनाओ
मुझे न सपनों में बहलाओ

बच्चनजी अब एक पुरुषार्थवादी के रूप में दिखलाई देते हैं। इस

पुरुषार्थवाद में मानव-गौरव इस दशा को पहुँच गया है कि वे मनुष्य को प्रार्थना के अर्थ भी सिर झुकाने के लिए सलाह नहीं देते । देखिए—

प्रार्थना मत कर, मतकर
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल
रह कर अविजित, अविचल प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर
प्रार्थना मतकर, मतकर, मतकर ।

बच्चनजी पलायनवाद की विश्रान्ति को भी संघर्ष की सफलता के लिए आवश्यक मानते हैं । हम देखते हैं कि हमारे कवि हमको जीवन-संघर्ष की ओर ले जा रहे हैं । 'सतरङ्गी' आपकी कविताओं का नवीनतम संग्रह है ।

छायावाद और रहस्यवाद

वस्तु के बाहरी आकार-प्रकार के अतिरिक्त उसमें और कुछ न देखने को ही इतिवृत्तात्मकता कहते हैं । लोगों का ध्यान उपयोगिता की ओर अधिक होने से द्विवेदी युग में इस भावना का प्राधान्य था, इसमें कुछ वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद का भी प्रभाव था । विज्ञान एक संकुचित प्रत्यक्ष का आश्रय लेता है । वह इन्द्रियजन्य ज्ञान से बाहर नहीं जाता । किन्तु संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है वही सब कुछ नहीं है । मूर्त जगत में भी घण्टे की झङ्कार की-सी अमूर्त की छाया रहती है । इन्द्रिय गोचर जगत् में इन्द्रियों के परे की चीज रहती है जो भावुक हृदय में प्रतिबिम्बित होती है । सब चीजें कटी-छटी सीमाओं में आबद्ध नहीं रहतीं । एक की-सीमा दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाती है । यह संसार जड़ और चेतन की सम्मेलन-भूमि है, किन्तु इनके भी क्षेत्र नितांत अलग नहीं । चेतन जड़ से सीमित नहीं । जड़ वस्तुएँ भी अपनी सांकेतिक भाषा में मनुष्य से बोलती हुई मालूम पड़ती हैं । जड़ चेतन को प्रभावित करता है, यही इस बात का प्रमाण है । जड़ और चेतन में नितान्त पार्थक्य नहीं ।

छायावाद वस्तुओं में उनकी कटी-छटी सीमाओं के अतिरिक्त और कुछ

देखने की प्रवृत्ति का फल है और वह इन्द्रियगोचर मात्र जगत् का भाव-जगत् के साथ समन्वय करता है। मनुष्य के लिये जड़ जगत् पत्थर की भाँति अभेद्य नहीं रहता वरन् वह मोम की भाँति उसके भावों के साँचे में ढल जाता है। जड़ चेतन के लिए बन्धन नहीं रहता और वह उसके प्रसार को सीमित नहीं करता वरन् वह आत्मा के प्रकाश के लिये पारदर्शक हो जाता है। जड़ पदार्थ भी आत्मीय भाव धारण कर लेते हैं और प्रकृति मनुष्य की सहचरी बन जाती है। छायावादी के लिये गुलाब का फूल केवल फूल न रहकर यौवन का प्रतीक बन जाता है। यमुना की लहरों में अतीत की आकुल तान सुनाई पड़ने लगती है। 'जुही की कली' स्नेह और सुहाग से भरी नायिका बन जाती है। झरना कुछ गहरी बातें कहते सुनाई देता है (बात कुछ छिपी हुई है गहरी) सारी प्रकृति कवि के साथ भाव-सहचार में स्पन्दित होती है। ऐसे भाव जायसी आदि में भी आये हैं।

आजकल का छायावादी कवि प्रकृति में भी मानवी भावों की छाया देखता है। उसके लिये पुष्प की पखुरियाँ मधु के कटोरे बन जाते हैं जिनमें अलिबालायें मधु पान करती हैं। तारागण आकाश के नेत्र बन जाते हैं और कवि उनमें मौन संकेत पाता है। देखिए—

सौरभ का फैला केश-जाल
करती समीर परियाँ विहार,
गीली केसर मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार,
मर्मर का मधुर संगीत छेड़,
देते हैं हिल पल्लव अजान। —पंत

नीचे की पंक्तियों में प्रकृति में अलङ्कार रूप से मानवी भावों का आरोप है। देखिए:—

अज्ञात लोक से छिप-छिप
ज्यों उतर रश्मियाँ आतीं
मधु पीकर प्यास बुझाने

फूलों के उर खुलवातीं

छिप आना तुम छाया तनु— —महादेवी

इन भावों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह सब कवि का मनोराज्य है। प्रकृति न किसी के साथ बोलती है और न हँसती है। यह मान भी लिया जाय, किन्तु इसके साथ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या प्रकृति की सार्थकता उसके अस्तित्व मात्र में है या उससे कुछ ऊपर भी है। उसमें 'अस्ति, भाति-प्रिय' लगा हुआ है। वह भी प्रेम का विषय है। छायावाद कम-से-कम उस पार्थक्य और शुष्कता को मिटा देता है जो कि इतिवृत्तात्मक काव्य में रहती है।

यहाँ पर छायावाद नाम पर प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक न होगा। आचार्य शुक्लजी ने छायावाद शब्द को 'Phantasmata' अर्थात् छायाभास से निकला हुआ बतलाया है। कविवर जयशंकर प्रसाद ने बतलाया है कि प्राचीन संस्कृत काव्य में छाया मोती की आभा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छायावाद का उसी छाया से सम्बन्ध है जो वस्तु का मूल्य बढ़ा देती है।

संभव है छायावाद को लोगों ने उसकी ईशत् अस्पष्टता के कारण इस नाम से पुकारा हो और फिर यह नाम प्रचलित हो गया हो। कुछ भी हो इस में छाया की सी कोमलता और स्वप्नमयता रहती है। छायावाद कोरे वस्तुवाद से सन्तुष्ट नहीं रहता, वह वस्तु में एक आध्यात्मिकता और स्थूल में सूक्ष्म की स्वप्निल आभा देखता है।

छायावाद ने अपनी इस सूक्ष्म और स्वप्नप्रियता के अनकूल एक शैली बना ली है। उस शैली की विशेषताओं का हम नवीन कविता की विशेताएँ बतलाते हुए दिग्दर्शन करा चुके हैं। उनमें मूर्त की अमूर्त से तुलना करना मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय अलङ्कारों का महत्व, सुन्दर शब्द-चित्रण, भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों का प्राचुर्य, छन्द की स्वच्छन्दता मुख्य हैं। शैली की इस नवीनता के अतिरिक्त छायावाद में बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को अधिक स्थान दिया गया है और वह कोरे वस्तुवाद से जरा ऊपर उड़ना चाहता है। छायावाद ने वासना के कर्दम से निर्मुक्त सौन्दर्य का शुद्ध निर्मल

रूप दिया और इसी के साथ हमारा ध्यान विश्व में एक व्याप्त चेतना की ओर आकर्षित किया। श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपने 'आधुनिक कवि' के संग्रह की भूमिका में इन दो बातों पर विशेष जोर दिया है।

छायावाद के प्रति सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि वह जीवन से हटा हुआ है और उसमें 'ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' तथा 'तज कोलाहल की अवनी रे' की पलायनवाद की-सी प्रवृत्ति है। छायावादी कवि जीवन की विषमताओं का सामना न कर उसकी वेदना से बचने के लिए एक कल्पित सौन्दर्य लोक में विचरता है। जीवन में किसी अंश तक सौन्दर्योपासना और भावुकता आवश्यक है लेकिन उनको जीवन का एक मात्र ध्येय न बना लेना चाहिए।

रहस्यवाद

आत्मा संकोच की ओर नहीं जाती वरन् सदा विस्तारोन्मुखी रहती है क्योंकि इसका सम्बन्ध सीमारहित से है। वह न केवल प्रकृति से ही सामंजस्य स्थापित करना चाहती है वरन् प्रकृति और जीव की भीतरी सत्ता या आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सामंजस्य के भाव की पूर्णतया पूर्ति के लिए उत्सुक रहती है। यही रहस्यवाद है। जिस प्रकार छायावाद कोरे वस्तुवाद से आगे जाता है और प्रकृति में मानवी भावों की छाया देखता है उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की वस्तु है। वह प्रकृति और मनुष्य के भीतर की व्यापक सत्ता के साथ एक भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। रहस्यवाद में एक आत्मनिवेदन रहता है। छायावाद में शैली की प्रधानता है, रहस्यवाद में विषय की, वैसे दोनों हीभाव-प्रधान हैं। शायद इसीलिए आचार्य शुक्लजी ने रहस्यवाद को छायावाद की एक प्रवृत्ति माना है। वह परमसत्ता जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, भीतरी है और व्यक्त भी होकर पूर्णतया जानी नहीं जाती। (नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत) इसलिए उसके सबन्ध में कुछ रहस्य रहता है। रहस्यवाद नया नाम है। यद्यपि प्राचीन शास्त्रों में परा-विद्या को रहस्य और गुह्य कहा है। इसका अनुभव गूँगे के गुड़ के

समान अवर्णनीय होता है। * इसीलिए यह 'सैना-बैना' द्वारा सांकेतिक भाषा में समझाया जाता है और इसमें प्रायः प्रतीकों और अन्योक्तियों से काम लिया जाता है।

रहस्यवाद भाव-प्रधान होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति गीतों में ही हुई है। वर्तमान युग के रहस्यवाद की धारा से अपना तादात्म्य रखने वाली कवयित्री श्री महादेवी वर्मा अपने 'सांध्य-गीत' की भूमिका में उसकी व्याख्या करती हुई लिखती हैं :—

"उसने (रहस्यवाद ने) परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका था, हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ि बन बहुतों को भ्रम में भी डाल दिया है परन्तु जिन इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा उन्हें इस नीहार लोक में भी गन्तव्य मार्ग दिखाई दे सका।"

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध कुछ लोग अद्वैत का मानते हैं और कुछ उसे द्वैतात्मक मानते है। ये सम्बन्ध भी कई प्रकार के होते हैं। मनुष्य अपने ही सम्बन्धों के आधार पर आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों का वर्णन करता है। प्रायः लोगों ने प्रेमी-प्रेमिका के सम्बन्ध को महत्ता दी है। रहस्य-वाद का सम्बन्ध परा विद्या से है। अंग्रेजी में ये लोग मिस्टिक (Mystic) कहलाते हैं और कुछ लोग इनको मर्मी कहते है। दार्शनिक का सम्बन्ध बुद्धि से ही रहता है। वह कभी-कभी सहज बुद्धि (Intuition) से भी काम

* जो दीखे सो तो है नहीं, है सो कहा न जाई।
सैना बैना कर सम झाऊँ गूँगे का गुर भाई॥—कबीर

नारद के भक्ति सूत्रों में प्रेम की अनुभूति को 'मूकास्वादवत्' कहा है। गूंगे का गुड़ भी वही चीज है।

होसकता है, लेकिन उसमें भावना की कमी रहती है, रहस्यवाद की अनुभूति में भावना की प्रधानता रहती है। इस अनुभूति के लिए कुछ साधन भी बतलाये गये हैं। आज कल के रहस्यवादियों में उन साधनों का तो अभाव है, किन्तु कुछ अनुभूति अवश्य है। वह वास्तविक है या काल्पनिक यह कहना कठिन है। मेरी समझ में उसमें कल्पना और काव्य अधिक है, फिर भी कुछ न कुछ अनुभूति का भी आधार है। अच्छी चीज की कल्पना के लिए भी इसकी ओर कुछ प्रवृति चाहिए। मुलम्मे के लिए भी थोड़ा-बहुत सोना दरकार होता है। इसलिए यह प्रवृत्ति निन्दनीय नहीं है। यह निन्दनींय तब होगी जब कि रहस्यवाद ही में काव्य संकुचित कर दिया जाय। काव्य का जीवन से संबंध रहना चाहिए। इस ओर आचार्य शुक्लजी ने लोगों का ध्यान आकर्षित करने में बड़ा योग दिया है। हर्ष की बात है कि आज कल के कवियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा है। पंतजी जैसे छायावादी कवि भी जीवन की ओर झुके हैं। सुश्री महादेवी वर्मा ने भी बङ्गाल के अकाल पर कविता लिखी है। आज कल का प्रगतिवाद इसी प्रेरणा का फल है। प्रगति वाद में कवियों का शोषित वर्ग की ओर अधिक ध्यान गया है।

प्रगतिवाद

जिस प्रकार छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया स्वरूप था उसी प्रकार इसमें सूक्ष्म के प्रति स्थूल की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। वह जीवन की विषमताओं को भुलाकर सौन्दर्य के स्वप्न नहीं देखना चाहता है। वैसे तो जहाँ नवीनता है वहीं प्रगति है (छायावाद भी एक प्रगति के रूप में आया था) किन्तु प्रगतिवाद अब एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। वह काव्य को वस्तुवाद की कठोर और कर्कश भूमि पर खड़ा करना चाहता है। वह शोषित, पीड़ित मानव को ही अपने काव्य का आलम्बन बनाना चाहता है। सामन्तशाही और पूँजीवाद से उसका विरोध है। जो लोग उनसे सम्बन्ध रखने वाली कविता करते हैं अथवा वे जो प्रगतिवादी सिद्धान्तों को नहीं मानते वे प्रतिक्रियावादी कहलाते हैं।

प्रगतिवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। यह एक प्रकार से मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। सौन्दर्य और कला से उसका विरोध नहीं है किन्तु वह पहले उन भौतिक अभावों को और जनता के दैन्य और दारिद्रय को दूर करना चाहता है जिसके कारण उनकी सौन्दर्यानुभूति में कमी पड़ती है। उसका सिद्धान्त है 'भूखे भजन न होय गुपाला'। वह कला को जनता के उपभोग का विषय बनाना चाहता है। प्रगतिवाद में अभी वकालत और प्रचार की अपेक्षा कला की कमी है। जिस प्रकार पंडितमा कवि यह भूल जाता था कि निम्न श्रेणी के एवं दलितों में मानवता के दर्शन हो सकते हैं उसी प्रकार प्रगतिवादी यह नहीं मानता कि उच्च वर्ग के लोगों में भी हृदय की उच्च भावनाएँ मिल सकती हैं। उनकी शिक्षा के कारण उनकी अनुभूति भी तीव्र होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त दुःख में पड़ा हुआ अभिजात वर्ग का मनुष्य केवल मानवता के नाते हमारी सहानुभूति का विषय हो सकता है। इससे यह भी मानना पड़ेगा कि संसार में रामराज्य स्थापन करने के लिए क्रान्ति ही एक मात्र साधन नहीं।

प्रगतिवाद ने अधिकाँश में रूस से प्रेरणा ग्रहण की है और वह वहाँ के मार्क्सवादी साहित्य से प्रभावित है। वह वहाँ की ही समाज को आदर्श समझता है। उसका स्तवन प्रगतिवाद का एक सैद्धान्तिक पक्ष सा हो गया है।

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मँडराते ना
सजी रास की ढेरी पर लालाजी घात लगाते ना
व्याज चुकाते ही न जवानी गई कमील जवानों की
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का

सम्भव है रूस में वहाँ के लोगों के प्रति सामाजिक शोषण न हो किन्तु रूस में भी दोष हो सकते हैं। उसमें साम्राज्य लिप्सा आसकती है।

छायावाद की भाँति प्रगतिवाद भी रूढ़िग्रस्त हो गया है। उसकी शोषित वर्ग के साथ जो सहानुभूति है वह अधिकतर बौद्धिक है। शायद यह फैशन कभी सच्ची सहानुभूति उत्पन्न करदे। हमको काव्य में प्रगतिवाद की वास्तविकता के साथ छायावाद के सौन्दर्य का समन्वय करने की आवश्य-

कता है। इनको चक्की के कर्कश स्वर को कोमलता प्रदान करने तथा उस कार्य को सुलभ बनाने के लिए कुछ राग चाहिए और राग में चक्की पीसना न भूलना चाहिए।

हर्ष की बात है कि अब हमारा साहित्य इस समन्वय की ओर अग्रसर हो रहा है। छायावाद और रहस्यवाद की सजग 'दीपशिखा' महादेवी जैसी कवियित्री बङ्गाल के अकाल पर कविता लिखती हैं। वे गद्य में तो पहले ही से प्रगतिवादिनी थीं। और अज्ञेय जैसे प्रगतिवादी संस्कृतगर्भित छायावादी शब्दावली को अपनाते हैं।

प्रेम का स्रोत जो छायावाद और प्रगतिवाद के बीच में अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति बहता था वह अब भी दिखायी पड़ता है किन्तु थोड़े निरावरण रूप में, अर्थात् उस पर ईश्वरीय प्रेम की पालिश नहीं की जाती।

आज-कल वस्तुवाद की भी कई शाखाएँ और काव्य में और भी बहुत से वाद स्थान पाते जा रहे हैं। उनका उल्लेख विस्तार भय से नहीं किया जाता।

छायावाद और रहस्यवाद के काव्य में अभिव्यंजनावाद का (अर्थात विषय की ओर ध्यान न देकर अभिव्यक्ति या कहने के ढङ्ग को विशेष महत्व देना) अवश्य प्रभाव है। किन्तु नीति और मर्यादा की अवहेलना नहीं हुई है। यदि हुई है तो बहुत कम। स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी लोगों ने बहुत मर्यादा से काम लिया है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जायगा कि वास्तविक अनुभूति की ओर ध्यान न देकर उसमें कहने के ढङ्ग का अधिक महत्व है, किन्तु वह विषय ही ऐसा है जिसमें अनुभूति सुलभ नहीं है। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, वर्तमान काव्य बहुत ऊँचा जारहा है। इसके लिये हम सबको गर्व करना चाहिये। रही सच्ची अनुभूति और भावना की बात, वह आज कल के युग में बहुत कठिन है। व्यक्तियों का दोष नहीं, युग का दोष है। बिना थोड़ी बहुत अनुभूति के काव्य में वह निजीपन और नवीनता नहीं आ सकती जो आज कल के काव्य में है। जैसा कि ऊपर कहा गया है आज कल के काव्य में भी कुछ रूढ़िवाद आ चला है किन्तु वह

नगण्य है। सच्चे कवि तो हर युग में कम रहे हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कविता रहस्यवाद और छायावाद से हट कर प्रगतिवाद की ओर जा रही है। आज-कल की कविता आदर्शवाद से हट कर वास्तविकता की ओर झुकी हुई है। हमको एक ओर तो वासना के मधु में जीवन की कटुता को भुला देने की प्रवृत्ति मिलती है और दूसरी ओर जीवन की घोर वास्तविकताओं को स्वीकार कर उनसे लड़ने की तैयारी दिखाई देती है। यह पिछली प्रवृत्ति अब प्रबलतर होती जाती है। काव्य जीवन से उदासीन न रह कर सोने की रेशमी चादर की अपेक्षा युद्ध क्षेत्र में आने के लिए कमर में बँधे हुए फेंटे का काम देने लगा है। प्रगतिवादी दल भी अब उतना उग्र और कट्टर नहीं रहा जितना कि पहले था। देश में स्वतंत्रता का अरुणोदय होगया है। दासता से कुण्ठित साहित्य को भी गति मिलेगी। उन्नत वास्तविकता के साथ उज्ज्वल स्वप्न भी देखने को मिलेंगे। नयी सांस्कृतिक चेतना भी जाग्रत होगी। हिन्दी का भी मान बढ़ेगा। स्वदेशाभिमान के साथ स्वभाषा के प्रति गौरव भावना का सृजन होगा। उच्च शिक्षा के माध्यम बनने के साथ-साथ, हिन्दी में नये वैज्ञानिक साहित्य की सृष्टि होगी। अभी निराशा के बादल बिल्कुल हटे तो नहीं किन्तु आशावाद का अरुणोदय हो गया है—'सूखी री यह डाल वसन वासन्ती लेगी।'